देवाधिदेव-रचना

(मूलार्थ, विवेचन, संगति, टिप्पणी, पाठान्तर संयुत)

अनुवादक :

मुनि सुमनकुमार

द्रव्य-दाता :

श्री टेकचंद साधुराम जैन [पाटणी]

रायकोट (लुधियाना)

रायकोट चतुर्मास-स्मृति में

प्रकाशक :

पुस्तक :
देवाधिदेव-रचना

रचयिता :
श्री हरजसराय

अनुवादक :
मुनि सुमनकुमार

प्रकाशक :
मुनीलाल जैन
मन्त्री, पूज्य श्री काशीराम स्मृति ग्रन्थमाला
अम्बाला शहर (पंजाब)

प्रति : पंचशत

संस्करण : प्रथम

दिनांक : ३० नवम्बर, १९६४

मुद्रक :
दामोदर शर्मा
मातृभूमि प्रिंटिंग प्रेस,
मोती डूंगरी रास्ता, जयपुर

मंत्री-वक्तव्य

देवाधिदेव-रचना जैसा लघु ग्रन्थ सविवेचन प्रकाशित करते हमें आज अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व भी इसका लघु संस्करण (मूल और अर्थ) प्रकाश में आया था। पाठक जगत में उसका अच्छा स्वागत हुआ किन्तु कतिपय पाठकों की ओर से विवेचन सहित प्रकाशित करने की सम्मति मिली इसलिए यह प्रयत्न किया गया है। वर्द्ध० स्था० जैन श्रमण संघीय प्रवर्तक पं० रत्न श्री शुक्लचन्द जी महाराज के सुशिष्य श्री महेन्द्र मुनि जी महाराज के सुशिष्य नि० व० मुनि श्री सुमन कुमार जी ने इसका अनुवाद करके परम अनुग्रह किया है। साहित्य जगत में पुरातन साहित्य को समुचित सम्पादित-अनुवादित कर प्रकाशित करना उनका लक्ष्य रहा है, उस दिशा में यह प्रथम पग है।

मुनि श्री जी के साथ हम श्रीमान् टेकचन्द साधुराम जी क्लाथ मर्चेन्ट रायकोट (लुधियाना) को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने पूरा व्यय देकर प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रकाशित करवाया है। लालाजी अपनी समाज के दानी-पुरुष हैं जो संत सेवा के साथ सामाजिक-सेवा में दिन-रात तत्पर रहते हैं। मुनि श्रीजी के सन् ६३ के रायकोट चातुर्मास की स्मृति में यह प्रकाशन करवाकर ग्रन्थमाला की उन्नति की है।

लालाजी के अनुदान के फलस्वरूप ही हम पूज्य श्री काशीराम-स्मृति ग्रन्थमाला के अन्तर्गत "पूज्य श्री अमरसिंह जैन पुरातन साहित्य-माला" की स्थापना कर रहे हैं जिसमें ४ से १६ वीं शदी तक की पुरानी रचनाओं का सम्पादन-प्रकाशन होता रहेगा।

आशा है प्रस्तुत अनुदित रचना स्वीकृत करेंगे।

दिनांक
११ नवम्बर, १६६४

मुनिलाल जैन,
मंत्री, पूज्य श्री काशीराम-
स्मृति ग्रन्थमाला
अम्बाला शहर,

मम-मन्तव्य :

ग्रन्थ :- प्रस्तुत ग्रन्थ एक पद्य रचना है । इसके सृजनकर्त्ता सुश्रावक हरजसरायजी है । इसका नाम "देवाधिदेव रचना" है । देवाधिदेव अर्थात् तीर्थङ्कर देव की रचना-स्वरूप या स्तुति का संकलन आचार्यहेमचन्द्र ने देवों के अधिदेव–स्वामी को देवाधिदेव कहा है–"देवानामप्याधिदेव देवाधिदेवः' आगम में भी पांच प्रकार के देवों का उल्लेख है – भव्य द्रव्यदेव, नर देव, धर्मदेव, देवाधिदेव और भाव देव ।

(क) मनुष्य, तिर्यञ्च आदि प्राणियों में देवत्व योग्य प्राणी भव्य द्रव्यदेव हैं ।

(ख) मनुष्यों में प्रधान चक्रवर्ति आदि नरदेव कहलाते हैं ।

(ग) अहिंसादि प्रसिद्ध पापकर्मों से सर्वथा विरत रहने वाला अणगार –साधु धर्म देव है ।

(घ) सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्त देवाधिदेव कहे जाते हैं ।

(ङ) व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक आदि देव भाव देव हैं ।

+ ज्ञानी गौतम का देवाधिदेव के विषय में प्रश्न है :—

भंते ! वे देवाधिदेव किस अर्थ से हैं ?

गौतम ! जो ये अरिहन्त, भगवान् उत्पन्न ज्ञान–दर्शन के धर्ता (वर्तमान अतीत, आगामी) त्रैकालिक ज्ञाता, अर्हत (कर्म शत्रु-हर्ता या हन्ता अथवा समार्ध्यवान) जिन (रागादि शत्रून् जयति जिनः) केवली (पूर्ण) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं इस अर्थ से (इसलिए) देवाधिदेव हैं ।+ देव अपूर्ण है ये पूर्ण हैं वे जन्मा ये अजन्मा है, ये वीतराग है वे

+ से केणट्ठेणं भन्ते ? एवं वुच्चइ देवाधिदेवा ?

+ गोयमा ! जे इमे अरिहन्ता भगवन्ता उप्पन्न नाण – दंसणधरा तीय–पडुप्पन्नमणागया जाणया अरहा जिणा केवली सव्वणू सव्व दरिसी, से तेणट्ठेणं जाव देवाधिदेवा । – भग० श० १२ । उ० ६

लोक-अलोक विलोक लियो प्रभु, श्री जिनराज महापद कामी,
आतम के गुण साथ दिपें भव, सेवक वंदत है रुचि पामी ।·८।

रचना का काया-कलेवर अति स्वल्प है, इसमें कुल ८५ पद हैं। इसे मूलतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है — मंगलाचरण, देवाधिदेव-स्तुति, समवसरण वर्णन । अथवा मंगलाचरण, विषय प्रवेश, समवसरण वर्णन, अष्ट प्रातिहार्यादि विविध वर्णन । इसमें समवसरण वर्णन (अष्टप्रातिहार्य) दो बार वर्णित है, पहला सवैया छन्द, दूसरा सिंहावलोकन वाक्य पद्धति से । इसमें पुनरुक्ति का आभास हो जाता है ।

रचना का काल ग्रन्थ के अन्तः साक्ष्य के आधार पर स्पष्ट है कि संवत १८६५ चैत्र (वदि) प्रतिपदा, बुधवार को कसूर (कुशपुर) जिला लाहौर में हुई है। —

"पण साठ संवत सौ अठारहि, चेत तिथि प्रतिपद भणी ।
बुध दिन कसुरपुर नमत हरजस, देहु प्रभु समता घणी ॥८५॥

ग्रन्थकार :— 'देवाधिदेव रचना' के रचयिता श्री हरजसरायजी हैं। ये ओसवाल जाति गधैया वंश (गोत्र) के थे। धार्मिकता की दृष्टि से जैन तथा श्रावक थे। ये जन्म से ही उत्तम विचार एवं आचारवान् थे। क्योंकि यह विरासत पैतृक थी। इनके जन्म एवं मृत्यु के सम्बन्ध में निश्चित नहीं कहा जा सकता। इनका जन्म स्थान आज का पाक सीमावर्ती शहर कसूर (कुशपुर) जिला लाहौर था जो प्रदेश आजकल पाकिस्तान में आगया है। इनके जैन होने का प्रमाण इनके वंशज हैं जो आज भी विद्यमान हैं। तथा कपूरथला (पंजाब) में ग्रन्थकार के प्रपौत्र जामाता ला० रामरत्नजी जैन विद्यमान हैं। ग्रन्थ के अन्तः-साक्ष्य के आधार पर ये विक्रम संवत् १८७० तक जीवित थे इस वर्ष इन्होंने 'देव-रचना' नामक ग्रन्थ का सर्जन किया था। यह इनकी उपलब्ध अन्तिम रचना है। जनश्रुति है कि इन्होंने अन्य कई ग्रन्थों की रचना की है पर आज तीन

ग्रन्थ, साधुगुणमाला, देवाधिदेव-रचना और देवरचना ही उपलब्ध है। ये अत्यन्त ख्याति प्राप्त हैं।

अनुमानतः इनका जन्म वि० सं० १८३० के लगभग हुआ होगा। रचनाएं बता रही हैं कि ये एक धार्मिक, भक्त और सर्वाङ्गीण विद्वान पुरुष थे। पिंगल शास्त्र में उनकी पूर्ण गति थी। धर्म शास्त्रों के अतिरिक्त शास्त्रों का भी उन्हें बोध प्राप्त था। इस सब ज्ञान के लिए आयु की अपेक्षा है।

ग्रन्थकार के विषय में मोटे तौर पर विवरणांश ऊपर दिया गया है, विशेष जानकारी के लिए उनके सम्बन्धियों से सम्पर्क स्थापित है मिलने पर पूर्णविवरण इनके दूसरे ग्रन्थ 'देवरचना' में दिया जायगा। क्योंकि जन्म प्रदेश तो पाकिस्तान में आ जाने से प्राचीन साहित्य सामग्री भी नष्ट हो गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ :—उत्थानिका, संशोधित मूल, मूलार्थ, विवेचन, टिप्पणी, संगति, पाठान्तर, शब्द-कोष, परिशिष्ट तथा कथाओं सहित है। मूल का आधार अधिकांश रूप में अब तक प्राप्त प्राचीन हस्तलिखित प्रति है। अन्य हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों से प्रति यह प्रति सबसे शुद्ध तथा सुन्दर लिखी हुई प्रतीत हुई है। यह विक्रम सं० १९१४ में लिखी गई है। उपलब्ध प्रतियां इस प्रकार हैं :—

हस्तलिखित :—

(क) (देवाधिदेव रचणा, साधु गुणमाला) देवरचणा संपूर्ण ॥ संवत १९१४ अमू सुदि ९ नवमी रविवासरे लिखतम् गुसांइ अमरदास समणोपासक ॥ रामनग्र के मंदिरजी मध्ये ॥" (प्रत लालचंद की) पैंसिल से।

पन्ने = ३४, लिपि प्राचीन, देवाधिदेव रचना, देवरचना, साधु-गुणमाला ग्रन्थत्रय एक ही प्रति में हैं। यह प्रति श्री बाबा मोतीराम से प्राप्त हुई है।

(ख) "इति श्री देवाधिदेव रचना हरजसराय कृत संपूर्ण ॥

संवत् १६३६ कार्तिक सुदि ११ एकादश्यायां भौमवासरे लिपीकृते वेलीराम गुजरांवाल मध्ये जिनमंदिरे पार्श्वनाथप्रसादात् ।।''

पृष्ठ चार, लिपि प्राचीन, ४८ वें पद का अन्तिम पाद । ४६,५० ५१ वां पद लिपिकर्ता से रह गया है जो बाद में लिखा गया है अन्तिम पृष्ठ पर । इसकी लिपि अर्वाचीन है । (यह प्रति प्रवर्तक श्री शुक्लचन्द जी महाराज की नेश्राय में है)

(ग) ।। इति श्री देवरचणा मध्ये प्रथम मंगलीक श्री देवाधिदेव रचणा बावनछंद का संपूर्ण ।।६०

यह प्रति २६ पृष्ठो की है, सटीक है, प्रथम १२ पृष्ठों में बावन छन्दो (पदो) की देवाधिदेव रचना है शेष में ''देवरचना'' । यह अधूरी प्रति है । संवत् शून्य है । इस पर बीकानेर रागड़ी चौक के बड़े उपाश्रय के श्री पूज्य जी के भण्डार की मोहर लगी है । (यह प्रति मेरे नेश्राय में है । लिपि शदीपूर्व की प्रतीत होता है पत्र भी जीर्ण-शीर्ण है । पर है आधुनिक

मुद्रित :

(क) '' ''प्रवचन संग्रह'' नंदलाल ब्रजवल्लभ भावड़ा, स्यालकोट, संवत १६५३ असु दिन १५ सन् १८६६ ता० २६ सितम्बर ।''

मुद्रित प्रति में यह सबसे प्राचीन प्रतीत होती है, इसमे पांच के लगभग रचनाएं हैं—साधुगुण०, देवाधिदेव० देवरचना, बालचंद उपदेश . ..सी, भक्तामर भाषा आदि ।

(ख) इन उपर्युक्त प्रतियो के आधार पर श्री छोटेलाल महाराज द्वारा संशोधित होकर एकत्रित भी एवं अलग भी प्रतियां स्यालकोट पंजाब मे प्रकाशित होती रही हैं ।

(ग) श्री देवाधिदेव-रचना (टीका सहीत) पं० श्रीलाल काव्यतीर्थ, सन् १६१६ ई० को प्रकाशित हुयी मिलती है । यह प्रति अर्द्ध—भावार्थ पूर्ण है । किन्तु कहीं २ शब्द का भाव अस्पष्ट और कहीं अर्थ विपर्यय भी है । मूल प्रायः अशुद्ध है । विवेचन में अधिकतर दिगम्बर आम्नाय का प्रतिपादन हुआ है ।

देवाधिदेव-विनय

देवाधिदेव मेरे, चरण पड़ूँ मैं तेरे, काटो चौरासी फेरे,
मुक्ति के दाता महावीरजी ओ मेरे मुक्ति के दाता प्रभुवीरजी।

कुण्डलपुर में जन्म लिया था माँ त्रिशला के जाये,
सिद्धार्थ नूँ देन वधाइयां देव देवियां आये।
खुशियाँ ने चार चफेरे, उठ गये गमां दे डेरे,
की की गुण गावां तेरे, मुक्ति के दाता महावीर जी ओ०

सत्य अहिंसा का दुनियाँ को तूने पाठ पढ़ाया,
स्याद्वाद का झन्डा ऊंचा दुनियां दे विच लाया।
कीते उपकार बथेरे, तारे पापी जहे मेरे
की की गुण गावां तेरे, मुक्ति के दाता महावीर जी ओ०

मंत्र दे नवकार प्रभु जी चण्डकोशिया तारा,
चन्दन बाला अबला दा वी तूने कष्ट निवारा।
वी. एल. बलिहारी तेरे, करलो सेवक नूं नेड़े,
की की गुण गावां तेरे, मुक्ति के दाता महावीर जी ओ०

★ मंगलाचरण ★

उत्थानिका—सर्व प्रथम कवि विघ्न निराकरण हेतु सर्वज्ञ देव को भाववंदन करता हुआ मंगलाचरण में संलग्न होता है :—

छन्द : दोहा

सकल जगतपति परमपद, पूरण पुरुष पुराण ।*
परम जोति राजत सदा; सो वंदो भगवान ॥१॥

मूलार्थ—जिन्होंने परमपद-भगवद् पद को प्राप्त कर लिया है, जो सम्पूर्ण प्राणी जगत् के नाथ हैं, पूर्ण हैं, पुरातन हैं तथा जिन पर सर्वदा ज्ञान-दर्शन की उत्तम ज्योति शोभित हो रही है ऐसे सिद्ध भगवान को मैं वंदना करता हूं ।

विवेचनः—प्रस्तुत मंगलपद में सर्वज्ञ देवाधिदेव को वंदन है । वे देवाधिदेव कौन से हैं ? अरिहंत अथवा सिद्ध ।

उक्त प्रश्न का उत्तर आगम एवं अन्तःसाक्ष्य के आधार पर विचारणीय है । प्रस्तुत पाठ के दो प्रकार के अर्थ किए गए हैं—एक सिद्ध और दूसरा अरिहंत । देवाधिदेव तो दोनों ही हैं पर वंदना अरिहंत देव को या सिद्ध भगवान को है ।

---

* 'न'

ग्रन्थ, साधुगुणमाला, देवाधिदेव-रचना और देवरचना ही उपलब्ध है। ये अत्यन्त ख्याति प्राप्त हैं।

अनुमानतः इनका जन्म वि० सं० १८२० के लगभग हुआ होगा। रचनाएं बता रही हैं कि ये एक धार्मिक, भक्त और सर्वांगीण विद्वान पुरुष थे। पिंगल शास्त्र में इनकी पूर्ण गति थी। धर्म शास्त्रों के अतिरिक्त शास्त्रों का भी उन्हें बोध प्राप्त था। इस सब ज्ञान के लिए आयु की अपेक्षा है।

ग्रन्थकार के विषय में मोटे तौर पर विवरणांश ऊपर दिया गया है, विशेष जानकारी के लिए उनके सम्बन्धियों से सम्पर्क स्थापित है मिलने पर पूर्णविवरण इनके दूसरे ग्रन्थ 'देवरचना' में दिया जायगा। क्योंकि जन्म प्रदेश तो पाकिस्तान में आ जाने से प्राचीन साहित्य सामग्री भी नष्ट हो गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ :—उत्थानिका, संशोधित मूल, मूलार्थ, विवेचन, टिप्पणी, संगति, पाठान्तर, शब्द-कोष, परिशिष्ट तथा कथाओं सहित है। मूल का आधार अधिकांश रूप में अब तक प्राप्त प्राचीन हस्तलिखित प्रति है। अन्य हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों से प्रति यह प्रति सबसे शुद्ध तथा सुन्दर लिखी हुई प्रतीत हुई है। यह विक्रम सं० १९१४ में लिखी गई है। उपलब्ध प्रतियां इस प्रकार हैं :—

हस्तलिखित :—

(क) (देवाधिदेव रचणा, साधु गुणमाला) देवरचणा संपूर्ण ।। संवत १९१४ असू सुदि ९ नवमी रविवासरे लिखतम् गुसांइ अमरदास समणोपासक ।। रामनग्र के मंदिरजी मध्ये ।।" (प्रत लालचंद की) पैंसिल से।

संवत् १६३६ कार्तिक सुदि ११ एकादश्यायां भोमवासरे लिपीकृते बेलीराम गुजरांवाल मध्ये जिनमंदिरे पार्श्वनाथप्रसादात् ।।''

पृष्ठ चार, लिपि प्राचीन, ४८ वें पद का अन्तिम पाद । ४६,५० ५१ वां पद लिपिकर्त्ता से रह गया है जो बाद में लिखा गया है अन्तिम पृष्ठ पर । इसकी लिपि अर्वाचीन है । (यह प्रति प्रवर्तक श्री शुक्लचन्द जी महाराज की नेश्राय में है)

(ग) ।। इति श्री देवरचणा मध्ये प्रथम मंगलीक श्री देवाधिदेव रचणा बावनछंद का संपूर्ण ।।६०

यह प्रति २६ पृष्ठो की है, सटीक है, प्रथम १२ पृष्ठों में बावन छन्दों (पदो) की देवाधिदेव रचना है शेष म "देवरचना" । यह अधूरी प्रति है । सवत् शून्य है । इस पर बीकानेर रांगड़ी चौक के बड़े उपाश्रय के श्री पूज्य जी के भण्डार की मोहर लगी है । (यह प्रति मेरे नेश्राय में है । लिपि शदीपूर्व की प्रतीत होता है पत्र भी जीर्ण-शीर्ण है । पर है आधुनिक

मुद्रित :

(क) " "प्रवचन संग्रह" नंदलाल व्रजबल्लभ भावड़ा, स्यालकोट, संवत १६५३ असु दिन १५ सन् १८६६ ता० २६ सितम्बर ।"

मुद्रित प्रति में यह सबसे प्राचीन प्रतीत होती है, इसमें पांच के लगभग रचनाएं हैं—साधुगुण०, देवाधिदेव० देवरचना, बालचद उपदेश ..सी, भक्तामर भाषा आदि ।

(ख) इन उपर्युक्त प्रतियों के आधार पर श्री छोटेलाल महाराज द्वारा संशोधित होकर एकत्रित भी एवं अलग भी प्रतियां स्यालकोट पंजाब से प्रकाशित होती रही हैं ।

(ग) श्री देवाधिदेव-रचना (टीका सहीत) पं० श्रीलाल काव्यतीर्थ, सन् १६१६ ई० को प्रकाशित हुयी मिलती है । यह प्रति अर्थ—भावार्थ पूर्ण है । किन्तु कहीं २ शब्द का भाव अस्पष्ट और कहीं अर्थ विपर्यय भी है । मूल प्रायः अशुद्ध है । विवेचन में अधिकतर दिगम्बर आम्नाय का प्रतिपादन हुआ है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पाठान्तर (ख) प्रति तथा मुद्रित (क) कॉपी से दिए गए है। मूलार्थ का आधार हस्तलिखित प्रति की टीका है। विवेचन यथा-संभव है।

अनुवाद में कही २ शब्दों के नये रूप भी रखे हैं–जैसे टिप्पणी, तीर्थ-कर आदि। ये शब्द शुद्ध भी माने गये हैं पर इनका प्रयोग कम रहा है।

अन्त में इस अनुवाद के प्रेरणास्रोत स्व० ला० खजानची लाल जी लाहौर वाले (दिल्ली) तथा दिशा-निर्देशक श्रद्धेय गुरुदेव श्री महेन्द्रकुमार जी महाराज एवं इनके संशोधक डा० नवरत्न कपूर पटियाला रहे है उनका मैं हृदय से आभारी हूं तथा सम्पादन और अनुवाद में सहायक उन ग्रन्थों एवं सभी ग्रन्थोकारों का विशेषतः आचार्य विनय चन्द्र जैन ज्ञान भंडार जयपुर का जहां से समय समय पर ये ग्रन्थ उपलब्ध होते रहे है कृतज्ञ रहूंगा।

पंजाब के स्थानकवासी जगत में देवाधिदेव-रचना को गीता, धम्मपद और सुखमणि साहब का स्थान प्राप्त है। इसी लोकप्रियता के कारण ही यह उत्कण्ठा प्रेरणा से बलवती हो गई और यह अनुभूति रहित अनुवाद कृति पाठकों के कर-कमलों में समर्पित है। आशा है, यह देवाधिदेव के स्वरूप का ज्ञान कराने में सहायक सिद्ध होगी।

प्रूफ संशोधन में दृष्टि दोष तथा अनभिज्ञता के कारण और साथ ही मुद्रणालय के साधनाभाव से रही अशुद्धियों के लिए क्षमा प्रार्थना!

लालभवन,
चौड़ा रास्ता जयपुर।

मुनि सुमनकुमार
दि० १६ अक्टूबर, ६४

देवाधिदेव-विनय

देवाधिदेव मेरे, चरण पड़ूँ मैं तेरे, काटो चौरासी फेरे,
मुक्ति के दाता महावीरजी ओ मेरे मुक्ति के दाता प्रभुवीरजी।

कुण्डलपुर में जन्म लिया था माँ त्रिशला के जाये,
सिद्धार्थ नूँ देन वधाइयां देव देवियां आये।
खुशियाँ ने चार चफेरे, उठ गये गमां दे डेरे,
की की गुण गावां तेरे, मुक्ति के दाता महावीर जी ओ०

सत्य अहिंसा का दुनियाँ को तूने पाठ पढ़ाया,
स्याद्वाद का झन्डा ऊंचा दुनियां दे विच लाया।
कीते उपकार वधेरे, तारे पापी जहे मेरे
की की गुण गावां तेरे, मुक्ति के दाता महावीर जी ओ०

मंत्र दे नवकार प्रभु जी चण्डकोशिया तारा,
चन्दन बाला अबला दा वी तूने कष्ट निवारा।
वी. एल. बलिहारी तेरे, करलो सेवक नूं नेड़े,
की की गुण गावां तेरे, मुक्ति के दाता महावीर जी ओ०

★ मंगलाचरण ★

उत्थानिका—सर्व प्रथम कवि विघ्न निराकरण हेतु सर्वज्ञ देव को भाववंदन करता हुआ मंगलाचरण में संलग्न होता है :—

छन्द : दोहा

सकल जगतपति परमपद, पूरण पुरुष पुराण ।*
परम जोति राजत सदा; सो वंदो भगवान ॥१॥

मूलार्थ—जिन्होंने परमपद-भगवद् पद को प्राप्त कर लिया है, जो सम्पूर्ण प्राणी जगत् के नाथ हैं, पूर्ण हैं, पुरातन हैं तथा जिन पर सर्वदा ज्ञान-दर्शन की उत्तम ज्योति शोभित हो रही है ऐसे सिद्ध भगवान को मैं वंदना करता हूं।

विवेचनः—प्रस्तुत मंगलपद में सर्वज्ञ देवाधिदेव को वंदन है। वे देवाधिदेव कौन से हैं ? अरिहंत अथवा सिद्ध।

उक्त प्रश्न का उत्तर आगम एवं अन्तःसाक्ष्य के आधार पर विचारणीय है। प्रस्तुत पाठ के दो प्रकार के अर्थ किए गए हैं—एक सिद्ध और दूसरा अरिहंत। देवाधिदेव तो दोनों ही है पर वंदना अरिहंत देव को या सिद्ध भगवान को है।

---

* 'न'

पहला : 'परम पद' सकल जगतपति, पूरण पुरुष पुराण' ये विशेषण सिद्ध भगवान के हैं। क्योंकि सिद्ध ही सम्पूर्ण जगत के नाथ हैं परम पद पर प्रतिष्ठित हैं तथा अजर, अमर, अशरीरी है, पुरातन हैं, पूर्ण हैं। आगम में उल्लेख है कि जब तीर्थङ्कर देव दीक्षित होते हैं तो वे सर्वप्रथम सिद्ध भगवान को नमस्कार करते हैं।* इससे भी यही परिलक्षित होता है कि तीर्थंकर-अरिहंत पद से सिद्ध पद ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है। अरिहंत-स्तुति में एक क्रिया पद में 'ठाणं संपाविउं कामाणं' और सिद्ध-स्तुति के लिए 'ठाणं-संपत्ताणं' का प्रयोग हुआ है अर्थात् सिद्धगति नाम वाले स्थान प्राप्ति के इच्छुक को तथा जो सिद्ध गति के स्थान को प्राप्त हो गए हैं उनको मेरा नमस्कार हो। इसका तात्पर्य भी सिद्ध पद पुरातन है और पूर्ण है प्रकट करना है।

सिद्ध पद आठ प्रकार के कर्मों का नाश करने से प्राप्त होता है तथा चार घातिया कर्मों का क्षय करने से अर्हत्पद मिलता है। यही कारण है कि वे अठारह दोष से विमुक्त हैं, सिद्ध सर्व कर्म विमुक्त है। वे सदा अपने में ही लीन रहते हैं। अरिहंत को अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों के नाश होने तक संसार में रुकना पड़ता है, समवसरण की विभूति प्राप्त होती है, प्राणी जगत को धर्मदेशना देनी होती है।

अरिहंत सकल परमात्मा है, उनके दर्शन होते हैं। सिद्ध निष्कल है अतः निराकार हैं और उनके शरीर न होने से दिखाई नहीं देते। सिद्ध ने पूर्णता प्राप्त करली होती है, वे वृद्धि और ह्रास से ऊपर उठ गए होते हैं पर अरिहंत को मोक्ष में

---

* सिद्धाणं णम्मुक्कारं करेइ करेइत्ता''''।—आचारांग सूत्र
सिद्धाणं नमो किच्चा ''''।

जाने तक की वृद्धि करना शेष है इसीलिए उनको 'वृद्ध' विशेषण दिया है।

दूसरे शब्दों में सिद्ध भगवान जीवन का आदर्श और अरिहंत यथार्थ है । सिद्ध लक्ष्य (goal) तो अरिहंत अवस्था साधना का उत्कृष्टतम रूप है।

सिद्धपद की शरण ग्रहण करते हुए एक आचार्य कहते हैं—'आठ कर्म क्षय करके जो सिद्ध हुए हैं, ज्ञान दर्शन ऋद्धि से समृद्ध हैं, सर्व अर्थलब्ध सिद्ध हैं वे मेरे लिए शरण हों।'

साथ ही 'सिद्ध' शब्द स्वयं ही अपने स्वरूप को स्पष्ट करता है-'सिद्धि स्वात्मोपलब्धि संजाता यस्येति सिद्धः । अर्थात् स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि जिसको प्राप्त हो गई है वह सिद्ध है । अथवा 'आठ कर्मों से रहित, आठ गुणों से युक्त, परिसमाप्त, कार्य और मोक्ष में विराजमान जीव सिद्ध कहलाते हैं।

ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी वंदन सिद्ध भगवान को ही परिलक्षित होता है। दूसरा मंगल पद 'वंदो श्री रिषभादि-जिन' स्पष्ट करता है कि प्रस्तुत पद अरिहंत-तीर्थंकर वंदन के लिए और दूसरा पद सिद्ध वंदना का है।

दूसरा :—'सकल जगतपति' परम पद, पूरण, पुरुष पुराण ये विशेषण भ० आदिनाथ के द्योतक हैं । क्योंकि शास्ता के नाते अरिहंत ही शासनदेव होते हैं, ❀सिद्ध नहीं । तीर्थङ्कर पद से महत्तम अन्य पद आत्मा का कौन सा है इस संसार में?

❀ "तिहुयणमणुसासंता"........च० प०

साधना की दृष्टि से चार घातिक कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञान, दर्शन रूप सर्वज्ञता प्राप्त करना ही पूर्णता है। इस पद को प्राप्त कर आत्मा पुनःपतित नहीं होता।

'पुराण पुरुष' आदि प्रथम अरिहंत, कर्म, धर्म सृष्टि के प्रथम विधायक होने से भ० ऋषभदेव पुराण-पुरुष, युगादि देव कहे जाते हैं। इसलिए प्रथम मंगलपद भ० ऋषभदेव की वंदना का है।

संगति—तिग्र लोग्रमत्थ यत्था, परमपयत्था····

छन्द लक्षण—दोहा छन्द के प्रथम और तीसरे पद में १३.१३ और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद में ११, ११ मात्राएं होती है। यति पाद के अन्त में होती है, विषम पादों (१–३) के आदि में जगण (151) नहीं आता, समपादों के अन्त में लघु आता है।

उत्थानिका—अब ग्रन्थकार दूसरे पद में वे भगवान कौन से हैं? स्पष्ट करता है।

छन्दः दोहा

वंदो श्री रिषभादि जिन, वर्द्धमान अरिहंत।
श्री चन्द्रानन देव थी, वारिषेण+ परियंत ॥२॥

मूलार्थ—मैं (हरजसराय कवि) भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थङ्कर

× सिद्धाणं, बुद्धाणं, परंपरगयाणं, लोगग्गमुवगयाणं नमो सया सव्व सिद्धाणं। + 'परयंत'

श्री रिषभदेव* एवं अरिहंत श्री वर्द्धमान जिनेश्वर तथा ऐरावत क्षेत्र के श्री चन्द्रानन देव× से लेकर वारिषेण पर्यन्त चौवीस देवाधिदेवों को वंदन करता हूँ।

संगति — णमो चउवीसाए तित्थगराणं उसभादि महावीरे पज्जव-साणाणं' अर्थात् भ० आदिनाथ से लेकर भ० महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों को नमस्कार हो।— श्रीर०, तम०, आवश्यक सूत्र

विवेचन : कवि ने भरतक्षेत्र का वासी होने से स्वक्षेत्र के तीर्थंकर देवों को तथा पुनः चन्द्रानन आदि ऐरावत क्षेत्र के धर्मदेवों को वंदन किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि कवि का उद्देश्य किसी एक तीर्थंकर देव की स्तुति करने का नहीं है अपितु देवाधिदेव की स्तुति से अभिप्राय है जैसा कि आगे के पद्य से स्पष्ट है।

'जिन' शब्द से विजेता से अर्थ लिया गया है अर्थात् जीतने

---

* ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, सुप्रभ (पद्म प्रभु) सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि (पुष्पदन्त) शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शांति, कुन्थु, अर्ह, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्द्धमान।

'उसभमजियं च वंदे, दसणं मजिअं'''''। (आवश्यक तथा नन्दी सूत्र)

वाला। साथ ही प्रश्न उठता है किसे जीतने वाला ? तो कहा गया है—राग-द्वेष को जीतने वाला 'जिन' कहलाता है—

'रागादि जेतृत्वाज्जिनः'

कर्मरूप महावृक्ष के राग और द्वेष ही बीज है जो आत्म-जल से सिंचित होकर प्रस्फुटित तथा वृद्धिगत होते हैं। शास्त्र-कारों ने स्पष्ट किया है—'रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।' आगे इसी कर्मरूप महावृक्ष के फलरूप नरक, सुख, दुख, संयोग-वियोग, जन्म-मरण आदि अनेकों भांति के परिणाम हैं, जिन्हें प्राणी रात-दिन अनुभव करता है। भविष्य में इनके प्रभाव से कर्म संतति—परम्परा वृद्धिगत होती रहती है और इसी क्रम से आत्मा शनैः शनैः गुरू-गुरूत्तर होकर नाना गतियों में भव-भ्रमण करता रहता है। यह दशा क्यों होती है, इस विषय में दर्शन-शास्त्रों ने स्वीकार किया है कि आत्मा जब तक राग-द्वेष अवस्था में रहेगा तब तक संक्लिष्ट परिणामों के कारण एक समय में ज्ञानावरण आदि सात कर्मों का संग्रह-संचय करता ही रहेगा। किन्तु साथ ही शुभ परिणामों की अपेक्षा उन्हें उपशांत, क्षयोप-शम भी करता रहता है। निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा तब तक कर्म संसर्ग से मलिन ही बना रहता है जब तक कि किसी अनुष्ठान का आश्रय लेकर उसे दूर न किया जाय और यह अनुष्ठान संयम कहलाता है जिससे कर्म तो क्या कर्म के बीज भी सर्वदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। अतः जब कर्म के बीजों का अस्तित्व ही न रहा तो फिर कर्मरूप महावृक्ष का सद्भाव ही क्यों ? अर्थात् 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' अथवा—

'दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवतिनांकुरः
कर्म बीजे तथा दग्धे, न प्ररोहति भवांकुरः।'

इस प्रकार जो आत्माएं राग-द्वेष रूप कर्म बीज की फल-दायिनी शक्ति को नष्ट कर देते हैं अर्थात् राग-द्वेष रूप शत्रु को जीत लेती है 'जिन' कहलाती है।

अरिहंत—'अरिहंत' शब्द दो पदों से बना है—'अरि' और 'हंत' अरि=(कर्म रूप) शत्रुओं को हंत=हनन करने वाले 'अरिहंत' कहलाते हैं। ❀अर्थात् रागद्वेष, अष्टकर्म, विषय और कषाय आदि भाव शत्रुओं का विनाश करने वाले। कर्म के आठ भेद हैं, उनमें से ज्ञानवरण, दर्शनावरण. मोह तथा अन्तराय इन चार कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्म-दर्शन, आत्म-ज्ञान, आत्म-वीर्य एवं आत्म-सुख (केवल ज्ञान, केवल दर्शन, यथा ख्यात चरित्र तथा अनन्त सुख) ये चार सिद्धियां उत्पन्न होती हैं। इन शक्तियों के आवरक कर्म घातिक या घातिया कर्म कहे जाते हैं क्योंकि ये आत्म गुण का घात करते हैं शेष चार कर्म अघातिक हैं जिनके फलस्वरूप यश, तीर्थंकरत्व आदि पद को भोगते हुए आयुष्य कर्म के बल पर इतस्ततः विचरण करते भव्य जीवों को प्रतिबोधित करते रहते हैं। यह है अरिहंत दशा का स्वरूप।

शास्त्रकारों का मत है कि इस अवस्था में आत्मा नवीन कर्मों का पुनः पुनः संचय ही नहीं करता। कर्मरूप रज योगों की प्रवृत्ति से आत्म-प्रदेशों की ओर समाकृष्ट तो अवश्य होती है किन्तु राग-द्वेष की चिकनाहट के अभाव में वह वहां चिमट नहीं सकती, क्योंकि राग-द्वेष के सद्भाव में ही आत्म-परिणामों में

❀ रागद्दोसारीणं हंता कम्मट्ठगाइ अरिहंता विसयकसायारिणं अरिहंता हंतु मे सरणं। चउ-प० १३

संक्लिष्टता अर्थात् मनोवृत्तियां कषाययुक्त होती हैं, मैली बनती हैं, जहां अभाव है वहां कर्म बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता ! इसीलिए इनको कर्म रूपी शत्रुओं को हनन करने वाले कहा जाता है। कर्म के अभाव में भव-भ्रमण, भाव, विकार, आशा, तृष्णा आदि दुःख भी इससे दूर हैं अतः आत्मा की यह अवस्था 'अरिहंत' अवस्था है। कहा भी है—

अट्ठविहंपि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्व जीवाणं।
तं कम्ममरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अर्थात् आठ प्रकार के कर्म समस्त प्राणी जगत् के शत्रु भूत हैं। इन कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करने वाला ही 'अरिहंत' कहलाता है। अरिहन्त के तीन नाम और भी हैं—अरहंत, अरुहंत अर्हन्त। जिनका क्रमशः अर्थ है परिग्रह तथा मृत्यु से रहित, आसक्ति व संतति (कर्म परम्परा) के संहारक तथा त्रिलोक में पूज्यनीय होने से पूज्य हैं।

उत्थानिका—भरत, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थङ्कर वंदन के पश्चात् कवि महाविदेह क्षेत्र स्थित धर्म प्रवर्त्तकों की वंदना करता है—

छन्द : दोहा

श्री सीमंधर* स्वामि थी विहरमान जिन बीस।
वंदे हरजस भक्तिधर, गावे गुण निश दीस ॥२॥

मूलार्थ—हरजसराय (कवि) महाविदेह क्षेत्र स्थित प्रथम

---

* कई प्रतियों में 'सीमंदर' शब्द है जो अशुद्ध प्रतीत होता है।

विहरमान श्री सीमंधर स्वामी आदि×बीस विहरमानों (जिनेश्वर देवों) की भक्ति-भाव से रात-दिन वंदना एवं गुण-गान करता है।

विवेचन—भ ऐरावत क्षेत्र की तरह महाविदेह क्षेत्र में भी देवाधिदेव विहरम ; होते हैं जिनकी संख्या जघन्य २० तथा उत्कृष्ट (१७०) एकसौ सत्तर मानी गई है।※ विहरमान से न ात्पय सदा काल विचरण करते रहने वाले अथवा सदा ही वर्तमान (विद्यमान) रहें, जिनका कभी विरह न हो। क्योंकि भरतादि क्षेत्र में तो तीर्थकर देवों की उत्पत्ति का विरह भी होता है।

विरह न होने से तात्पर्य तीर्थङ्कर पद से है न कि व्यक्तियां से एक तीर्थङ्कर के निर्वाण के साथ ही अन्य तीर्थंकर देवों की उत्पत्ति रहती है अतएव यही विद्यमानता है।

जैन भूगोल के अनुसार एक लाख योजन के जम्बू नामक द्वीप में एक भरतक्षेत्र, एक एरवत क्षेत्र तथा एक ही महाविदेह

× सीमंधर स्वामी, युगमंधर स्वामी, बाहु स्वामी, सुबाहु स्वामी, सुजात स्वामी, स्वयंप्रभ स्वामी, ऋषमानन्द स्वामी, अनन्तवीर्य स्वामी, सूरप्रभ स्वामी, वज्रधर स्वामी, चन्द्रानन स्वामी, चन्द्रबाहु भुजंगधर स्वामी, ईश्वर स्वामी, नेमप्रभ स्वामी, वीरसेन स्वामी महाभद्र स्वामी, देवयश स्वामी, अजितवीर्य स्वामी।

"पंचदस कम्मभूमिसु उप्पन्नं सत्तरि जिणाण सयं"।—तिजय, स्तो,

※ भगवान अजितनाथ के युग में १७० तीर्थङ्कर विद्यमान थे। शेष काल में १६० ही विद्यमान रहे हैं।

क्षेत्र है। इनका क्षेत्रफल क्रमशः ७६,१५,३१५ वर्गयोजन, ५ कला, ३ अरब ३६ क्रोड़ ३४ लाख वर्ग योजन है।

इसमें भरत और एरवत क्षेत्र का जलवायु, मानव वृत्ति, व्यवस्था आदि समान ही माना गया है। इसलिए धर्म, कर्म, तीर्थंकर उत्पत्ति आदि का भी एक ही प्रकार है तथा समय (काल) व्यवस्था भी उसी प्रकार की होने से पंचमकाल में तीर्थंकर का मोक्ष पद का, उत्कृष्ट ज्ञान [केवल ज्ञान, मनः पर्यव, परमावधि-ज्ञान, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यातचारित्र, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षायिक सम्यक्त्व और जिनकल्प] आदि का अभाव एवं विरह रहता है। किन्तु महाविदेह क्षेत्र में पंचमकाल, तीर्थंकर विरह आदि नहीं होता। प्रकृति एवं पुरुषार्थ को स्थिति वही रहती है अतः सदा चतुर्थ आरक ही रहता है। पंचमकाल में एरवत और भरत क्षेत्र का प्राणी स्वक्षेत्र से नहीं महाविदेह क्षेत्र मे जन्म धारण कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है क्योंकि वहां साधनों की अनुकूलता रहती है।

उत्थानिका—चतुर्थ पद्य में ग्रन्थकार वंदना का कारण प्रस्तुत करता हुआ तथा वंद्य का परिचय देकर पुनः वंदन करता है :—

छन्द : दोहा

जिन जग ज्ञान प्रकाश कर, मिथ्या तिमिर मिटाय।+
भव जन को शिव मग दियो, सो वंदो जिनराय॥४॥

मूलार्थ—जिन्होंने (तीर्थंकर देवों ने) जगत् में ज्ञान का प्रकाश करके मिथ्यात्व-अज्ञान रूप अंधेरे को दूर किया है तथा

+ मिटाइ, जिनराइ—पाठान्तरे।

भव्य जनों–मुमुक्षुओं को कल्याण का मार्ग बतलाया है, ऐसे जिन-राज को मैं वंदना करता हूँ।

विवेचन—कवि वन्द्य उसी को मानता है जिसमें गुण हों, गुण शून्य व्यक्ति को वंदन व्यर्थ है : आदि तात्पर्य है। साथ ही कवि के जीवन में स्थित श्रद्धा, भक्ति एवं स्वाभिमानता यह प्रत्यक्ष प्रदर्शन है।

तीर्थंकर देवाधिदेव के लिए एक विशेषण आगम में मिलता है 'पयासयरा' अर्थात् प्रकाशकर। वे प्रकाश करने वाले होते हैं। इन्हें 'लोग पईवाणं "लोगपज्जोयगराणं" कह कर 'स्तुति' नमस्कार किया गया है।

वास्तव में जीवन के लिए प्रकाश की आवश्यकता है। बिना इसके जीवन सही मार्ग में गमन नहीं करता : व्यवहारिक जीवन के लिए प्रकाश की आवश्यकता है तो फिर आध्यात्मिक जीवन के लिए तो इसकी कितनी होगी ? आगम में उल्लेख है साधक के लिए कि "यात्रा में ज्ञान का प्रकाश लेकर चलो, अज्ञान और मोह को दूर हटाओ।" तीर्थङ्कर देव का प्रकाश ज्ञान का प्रकाश है। तत्त्व का स्वरूप, वस्तु स्वरूप का सर्वांगीण कथन कर अज्ञान, भ्रांति, संशय रूप जो अन्धेरा है उसे दूर करते है। क्योंकि मिथ्यात्व अज्ञान आदि अशुभ कर्म के बन्ध के हेतु । मिथ्यात्व अवस्था विवेक से शून्य तथ्य से विपरीत श्रद्धान वाली होती है तो क्रिया भी वैसी होगी। As you think so you do, जैसा विचार वैसा आचार वाली, कहावत चरितार्थ होगी।

देवाधिदेव वास्तव में Light houses हैं जो संसार-समुद्र में आते-जाते जीवन रूप जलयान को Search-light की भांति

प्रकाश फैंक कर मार्गदर्शन करते रहते हैं। इस प्रकार जीवन श्रेय-प्रेय, हानि-लाभ, सुख-दुख का ज्ञान प्राप्त कर सुन्दर व प्रशस्त मार्ग प्राप्त करता है यही जिनराज द्वारा भव्य जनों को शिव मार्ग देना है। इसीलिए एक आचार्य ने भावभीनी स्तुति करते हुए कहा—"अन्नाण-संमोह तमोहरस्स, नमो नाण दिवायरस्स" अर्थात् अज्ञान, संमोह रूप अन्धकार को दूर करने वाले हे ज्ञान दिवाकर तुम्हें नमस्कार हो। 'जिनराय' शब्द देवाधिदेव की महानता, ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का द्योतक है। आगम में तीन प्रकार के जिनका उल्लेख है× अवधि ज्ञानी, मन पर्यव ज्ञानी तथा केवल ज्ञानी जिन। इन में पूर्णता केवल ज्ञानी जिन में हैं। अतएव इन्हें जिनराज कह कर पुकारा गया है। "वंदामि जिणवरिंदं"

उत्थानिका— निम्न पद्य में ग्रन्थकार पंच परमेष्ठी को स्वयं प्रणाम करता हुआ अन्यों को भी प्रणाम एवं गुण कीर्तन की प्रेरणा देता है—

छन्द : दुर्मिल (कमल बंध)

परमेष्टि॥ महा पद पंचन को, पहले प्रणमों+पहि उठ सदा,
परमारथ के पथ पावन को, परमातम को पहिचान मुदा।
भव सिंधु जहाज उतारन को, सिमरो मनमो वर पंच पदा,
दिवके सुख के घर मव्वनको, शिव साधन को सुयदा हि कदा

मूलार्थ—महा-उच्च पद स्थित पंच परमेष्ठी—(अरिहंत,

× तओ जिणा पण्णत्ता। तं जहा—"ओहि नाण जिणे, मणपज्जव नाण जिणे, केवल नाण जिणे। —स्था० ३ ठा० ४ उ०

॥ परमेष्ट।

+ 'प्रणमो' ऐसा भी पाठ है। इसका अर्थ होगा 'नमस्कार हो'

सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु) को सदा प्रातः काल उठ कर सर्व प्रथम ही नमस्कार करना चाहिए, किसलिए ?

परमार्थ—मोक्ष मार्ग को प्राप्त करने के लिए, अनन्त ज्ञानादि गुण संपन्न सिद्ध—परमात्मा को जानने की अभिलाषा से, भवसागर अर्थात् जन्म-मरण के सागर से पार उतारने के लिए जलपोत (जहाज के तुल्य) दिव्य सुखों के आगार (घर) भव्य जनों के लिए जहां-तहां कल्याण के साधन हैं ऐसे श्रेष्ठ पांच पदों का मनमें भी स्मरण करना चाहिए ।।५।।

विवेचन—प्रस्तुत छन्द में कवि पंच परमेष्ठी को प्रणाम और स्तुति करता है साथ ही इसके (प्रणाम और स्तुति) कारण को भी स्पष्ट करता है कि 'परमारथ के पथ पावन को' तथा 'परमातमप हिचान मुदा' के लिए और साथ ही ये संसार-समुद्र से पार लगाने में जलयान, शिव-मोक्ष के साधन हैं। आचार्य सिद्धसेन पार्श्व जिन की स्तुति करते हुए कहते हैं—प्रभो ! आप कल्याण के घर हैं, उदार हैं, पापनाशक हैं, अभय प्रदान करने वाले हैं, तथा आपके प्रशंसनीय चरण-कमल जो संसार रूप सागर में डूबते हुए प्राणियों के लिए जलयान के तुल्य हैं उनमें मेरा प्रणाम है ।+

आगम में परमेष्ठी नमस्कार का महात्म्य और महाफल 'सर्व पापों का नाश होना' बतलाया है—

"एसो पंच णम्मुक्कारो सव्व पावप्पणासणो" ।

पंच परमेष्ठी लोकोत्तम हैं, वीर हैं, नर-सुर तथा विद्याधरों से पूज्य हैं, संसार के दुखाभिभूत प्राणियों के लिए वे ही एक मात्र

+ कल्याण मंदिरमुदारवद्यभेदि ।

शरण हैं, उनका स्वभाव मंगल रूप है।" उनको भक्ति करने से सम्यगदर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की प्राप्ति होती है। वे मोक्ष प्रदान करने में पूर्णरूप से समर्थ हैं।※

परमेष्ठी — का अर्थ है 'परमे पदे तिष्ठतति परमेष्ठी' अर्थात् जो परम में—श्रेष्ठ स्थिति, अवस्था में स्थित है, रहे हैं, रहेंगे वे ही परमेष्ठी हैं।+ वह परम स्थिति क्या है ? आत्मा का कषाय, अशुभ योग, एवं कर्म बन्ध से विमुक्त हो जाना ही आत्मा की परमस्थिति है, राग-द्वेष, जन्म-मरण, कर्म-विकर्म आदि आत्मा की परम अवस्थाएँ नहीं है। किन्तु परमावस्था में अहं-त्वं का नाद, ममत्व, वासना तथा तृष्णा की गन्ध सर्वदा के लिए समाप्त हो जाती है। आत्मा अपने स्वभाव में रमण करता हुआ शुद्ध, शुद्धतर एवं शुद्धतम स्थिति में पहुँच जाता है।

बस ऐसी शुद्ध परिणति है जिसकी (आत्मा) अथवा जिनके विचार, उच्चार और आचार में एक रूपता है, साम्यता है वे आत्माएं परमेष्ठी है।

श्रद्धा-भक्ति युत किया गया अरिहंत आदि परमेष्ठी को

※ दशभक्त्यादि संग्रह २८, ६, व भावपाहुड १२४ गा०, भाषा० कुन्द।
+ 'परमे उत्कृष्टे-इन्द्र-धरणेन्द्र-नरेन्द्र-गणेन्द्रादि वंदिते-पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी'—जिन सहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति पं० आशाधर।

'मल रहिओ कलचित्तो अणिन्दओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परम जिणो, सिवं करो सासओ सिद्धो ॥

अर्थात् परमेष्ठी वह है जो मल रहित, शरीर-रहित, अनिन्द्रिय, वेशुद्धात्मा, परमजिन और शिवंकर हो।

वंदन मोक्ष, दिव्य सुख आदि का कारण है क्योंकि वे जलपोत की तरह संसार-समुद्र से पार लगाने वाले हैं, कल्याण के कारण हैं अर्थात् व्यक्ति इनके गुणों का स्मरण करता हुआ अपनी मानसिक, वाचिक तथा कायिक स्थिति को शुभ एवं सुष्ठु बना लेता है। इनके स्मरण से पूर्व अशुभ कर्म एवं संस्कार नष्ट हो जाते हैं। अतः वे शिव के कारण हैं।

छन्द लक्षण—दुमिल वार्णिक छन्द है इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण (IIS) होते हैं। इसका दूसरा नाम चन्द्रकला भी है।

उत्थानिका—कवि जिनेन्द्र देव को अन्य साधु ऋषियों से श्रेष्ठ बतलाता हुआ उनकी स्तुति करता है—

छन्द : दुमिल

रिषि रूप वरं रिषि धर्मधरं, रिषिवृंद युतं रिषभादि जिनं,
रिस-मान-मृषा रिपु सर्वहरं, रिजु पंथ वहं रिण दोष हनं।
अस भीत हरं चित्त शांत करं, दुख दोष हतं शिव शंकरणं,
परम पुरुषारथ मोच्छ धरं, *प्रणमों अरिहंत पदा रमणं।६।

मूलार्थ—ऋषियों में जो श्रेष्ठ है, क्षमा आदि दस+ऋषि धर्म के धर्त्ता-धारण करने वाले हैं, अहिंसा, संयम, तप आदि

+ खंति मुत्ति अज्जेव मद्दवे लाघवे सच्चे संजमे तवे चेइये बंभचेरवासे।
—क्षमा, निर्लोभ, ऋजुभाव, मृदुता, लघुता, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य।　　* पृष्ठ १२ का देखिए फुट नोट

के पालक ऋषियों–साधुओं के समुदाय से युक्त श्री ऋषभदेव आदि चौबीस जिनेश्वर देव जिन्होंने क्रोध, अहंभाव, असत्य आदि सर्व प्रकार के भाव शत्रुओं को जीत लिया है तथा जो ऋजुता–सरलता के मार्ग पर गमन करते हैं अथवा ऋजु मार्ग के प्रतिष्ठापक हैं, जन्म-जन्मान्तर के कर्मरूप ऋण, राग-द्वेष, हिंसा आदि दोषों के नाशक हैं एवं जो चित्त की भ्रांति तथा भय को दूर कर उसे (चित्त) शान्ति प्रदान करने वाले हैं, व्याधि, चिन्ता आदि शारीरिक-मानसिक दुःख-दोष को नष्ट कर शांति के करने वाले हैं तथा धर्म, अर्थ और मोक्ष में से मोक्ष रूप सर्व श्रेष्ठ पुरुषार्थ को जिन्होंने जीवन में धारण किया है ऐसे रमणीय अरिहंत पद अवस्थित जिन देवों को मैं नमस्कार करता हूं ।।६।।

विवेचन—कवि अज्ञान, मोह, भय आदि अठारह दोष रहित, ऋषि-वृन्द सहित, भगवान ऋषभदेव आदि अरिहंत देवाधिदेव की स्तुति करता हुआ अन्य को वन्दना करने की प्रेरणा देता है कि—"प्रणमों अरिहंत पदा रमणं" इन्हें प्रणाम करो । क्योंकि यह वंदन-क्रिया चित के सम्पूर्ण भ्रम-भय आदि दोषों का नाश कर शांति देने वाली होगी ।

"ऋषि" शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि "रेषणात् क्लेश राशिनामृषिः प्रोक्तः" अर्थात् जो क्लेश राशि को नष्ट करते हैं, उन्हें ऋषि कहते हैं । + उच्च गुण की धारक व्यक्तियां मंगलरूप होती हैं और उन्हें किया गया वंदन जीवन का अमंगल भंजक होता है फिर ऋषभ आदि तो ऋषिनाथ हैं ।

+ ऋषन्ति–जानन्ति अवधिज्ञानादिनेति ऋषयः–अतिशय ज्ञानवन्तः
—औप० टीका, आचा घासीलाल

आगम में तीर्थङ्कर की तीन साधु परिषद् है उनमें एक ऋषि परिषद् भी है। यथा-मुनि परिषद् यति परिषद् और ऋषि परिषद् ऋषि क्लेश राशि को नष्ट करते हैं। वह क्लेश राशि क्या है जिसके न होने पर ही अठारह दोष रहित कहे जाते है ? वह क्लेश राशि और वे दोष निम्न है:-

पांच अन्तराय, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, काम, हास्य आदिछह (रति-अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) राग-द्वेष और निद्रा अठारह दोष हैं।※

विषय-प्रवेश

★ देवाधिदेव-स्तुति ★

उत्थानिका—ग्रन्थकार तीर्थङ्करदेव के उत्पत्ति स्थान अर्थात् कुल, देश, वंश एवं योग्य सामग्री का वर्णन करता है:-

छन्द : दोहा

आरज देश सुधर्म कुल राज वंश विख्यात ।
नर तन दस विध शुभ सहित, मात-पिता शुभ जात ।।७।।

मूलार्थ—ये देवाधिदेव आर्यदेश, अहिंसादि श्रेष्ठ धर्म के पालक कुल में अर्थात् आर्य कुल में, सुप्रसिद्ध राजकुल (वंश), तथा मातृ-पितृ गुण युक्त (कुलीन्, जातिवान्) माता पिता के यहां मनुष्य जीवन के दस शुभ साधन हों वहां जन्म लेते हैं ।

विवेचन—कवि का अभिप्राय है कि उत्तम जीवन के लिए उत्तम साधन चाहिए, अतः तीर्थंकर देव ऐसे उत्तम कुल आदि एवं

कुलीन माता-पिता के यहां जन्म लेते है जहां प्रारम्भ में जीवन निर्माण की शिक्षा प्राप्त होती है तथा शुभ कर्म एवं कर्तव्य पालन के साधन भी उपलब्ध होते है। वे दस साधन ये हैं—क्षेत्र, वास्तु-प्रासादादि, हिरण्य, पशु और और दास समूह ये चार काम स्कन्ध और मित्र, श्रेष्ठ जाति, उच्च गोत्र, सुन्दर वर्ण, आरोग्य, महा-प्रज्ञा, विनय, यश और बल। 'उवेति माणुसं जोणिं, से दंसगे ऽभिजायइ।' + जीवन पर घरेलू वातावरण और विशेषतः माता-पिता के व्यवहार का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है अस्तु, देवाधिदेव का जीवन इतना दृढ होता है कि उन्हें दूसरा प्रभाव प्रभावित नहीं करता। तथापि व्यवहारतः ऐसा अपेक्षित है।

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में कवि तीर्थङ्करदेवों की शारीरिक, अस्थिबल, आकृति, शुभ लक्षण तथा प्रमाण का उल्लेख करता है—

छन्द : दोहा

वजर रिषभ नाराच तन, समचउरस संठाण।
अट्ठ संहस लक्खण सहित, मानोन्मान प्रमाण ॥८॥

मूलार्थ—देवाधिदेव का शरीर वज्रऋषभ नाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, एक हजार आठ शुभ लक्षण एवं मान-उन्मान और प्रमाण वाला होता है।

+ खेत्त वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास पोरुसं।
चत्तारि काम खंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥१७॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चा गोए य वण्णवं।
अप्पायंके महा पन्ने, अभिजाए जसो बले ॥

विवेचन—तीर्थंकर देव का शरीर सामान्य प्राणियों के शरीर से उदार प्रधान होता है। अतिशय पुण्य के उदय भाव से इनके शरीर का अस्थिगठन, बल अत्यन्त दृढ़ एवं अपरिमित होता है। उनके देही की आकृति सुन्दर समचौरस होती है ऐसा नहीं कि डील-डौल कुरूप, कुबड़ा आदि हो। किन्तु उनकी देही अतिशय भव्य रमणीय एवं सौम्य होती है। साथ ही शरीर की लम्बाई चौड़ाई प्रमाणोपेत होती है अर्थात् उनका शरीर न तो अधिक लम्बा होता है और न अधिक छोटा ही बल्कि मध्यम अवगाहना वाला होता है। क्योंकि शारीरिक सुन्दरता के लिए उसके प्रमाण की भी अपेक्षा रहती है। अन्यथा वह भद्दा प्रतीत प्रतीत होगा। ऐसे भव्य शरीर पर वृषभ-सिंह आदि के एक सहस्र आठ शुभ चिन्ह भी अंकित रहते है।+

यही कारण है कि पूज्य को १००८ लिखते हैं। भगवान् आदिनाथ के वृषभ का, भ० महावीर के सिंह का प्रधान (चिन्ह) लक्षण था।

शरीर-लक्षण के दो प्रकार हैं—अभ्यान्तर और बाह्य।

+ (१) वृषभ (२) गज (३) अश्व (४) वानर (५) क्रौंच (६) कमल (७) स्वस्तिक (८) चन्द्र (६) मकर (१०) श्री वत्स (११) गेंडा (१२) महिष (१३) वराह (१४) श्येन (१५) वज्र (१६) हरिण (१७) अज (१८) कलश (१६) कूर्म (२०) नीलोत्पल (२२) शंख (२३) सर्प (२४) सिंह।

ये क्रमशः २४ तीर्थङ्करों के शरीर के एक २ प्रधान लक्षण हैं। इसी प्रकार के शेष एक सहस्र सात और होते हैं।

'अट्ठुत्तरो सहस्सो, सव्वेंसि लक्खणाई देहेसु'—सत्त० १२३।

बाह्य है स्वर-वर्ण आदि तथा आभ्यन्तर स्वभाव, सत्त्व इत्यादि।

सामान्य पुरुष बत्तीस, बलदेव, वासुदेव एक सौ आठ, तीर्थंकर चक्रवर्ती एक हजार आठ लक्षणों से युक्त होते हैं। ये संख्या हाथ-पांव आदि में जो दिखाई देते हैं उनकी है। स्वभाव और सत्त्वादि भेद से तो आभ्यन्तर गुण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। ये अनन्तजन्मकृत शुभनाम शरीर अङ्गोपांग कर्मोदय से प्राप्त होते हैं।

शरीरादि का वर्णन करते हुए प्रायः 'लक्खण वंजण गुणोववेय' प्रयोग किया जाता है।

लक्षण—जिससे पहचान हो वह लक्षण है। या शरीर के साथ ही जो (चिन्ह) उत्पन्न होते हैं वे लक्षण कहलाते है। हाथ-पांव आदि अंग, अंगुलियां आदि उपांग, नाखून आदि अंगोपांग, इनकी विशेष आकृति, रचना तथा इन पर रहे प्रशस्त छत्र आदि के चिन्ह लक्षण है। इनका प्रमाणोपेत होना भी लक्षण है। यह तीन प्रकार का है—मान, उन्मान और प्रमाण।

व्यंजन—जो शरीर के साथ ही उत्पन्न न होकर पीछे से से उत्पन्न हो। जैसे तिल, मशादि।

गुण—सौभाग्य, सुस्वर, आदेय, यश, कीर्ति आदि।

समस्त त्रिषष्ठि शाला का (२४ तीर्थकर १२ चक्री, ९ वलदेव ९ वासुदेव ९ प्रतिवासुदेव) पुरुष वज्र ऋषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान वाले होते हैं। संहनन और संस्थान शरीर, वल, रूप और सुन्दरता का कारण है क्योंकि सहंनन से ही शरीर पुद्गल दृढ़ किए जाते हैं और उसका आधार है अस्थि-निचय अर्थात् हड्डि की रचना। + जितने अंशों में यह अस्थि

+ संहन्यन्ते—दृढ़ि क्रियन्ते शरीर पुद्गला येन तत् संहननं तच्चास्थि निचय.............. —अभिधान रा०

रचना दृढ़ होगी शरीर बल भी उतना ही अधिक होगा। संस्थान पुद्गल रचना को आकृति है, रचना यदि सुव्यवस्थित है तो शरीरगत अंग - उपांग यथा स्थान अवस्थित होंगे तो आकृति सुन्दर, सुहावनी तथा बल भी पर्याप्त रहेगा। यदि अंगादि टेढ़े मेढ़े होंगे तो सुन्दरता और बल भी कम हो जाता है। अतएव मान-उन्मान-प्रमाण के साथ संहनन और सस्थान का गहरा सम्बन्ध है।

तीथङ्कर देव के बल का निर्देश करते हुए बताया है कि मांडलिक राजा के बल से बलदेव बली होता है, कोटि मन शिला उत्पाटन की शक्ति वाला वासुदेव होता है, उससे द्विगुण बल वाला चक्रवर्ती तथा अमितबल वाले जिनेश्वर होते हैं 'जिणा अपरिमिय बला सव्वे"। इस अपरिमित बल का कारण उक्त संहनन और संस्थान ही प्रतीत होता है। उदाहरण स्वरूप इन्द्र के संशकित होने पर बालक वर्द्धमान प्रभु का अंगूठे से सुमेरू का कंपाना अरिष्टनेमि की वासुदेव द्वारा भुजा झुकना। ये अपरिमित बल का ही कारण है।

आगम में उल्लिखित 'प्रथम संहनन और संस्थान वाला ही मुक्त एवं सिद्ध होता है, से यही तात्पर्य है।

देवाधिदेव की ये सब शरीरगत विशेषताएं हैं जो शुभ नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई हैं।

टिप्पणी—वज्रऋषभनाराच=वज्र का अर्थ कील है, ऋषभ का अर्थ वेष्टन पट्ट (लेपनपट्टि) तथा नाराच से अभिप्राय दोनों ओर से मर्कट बन्ध। फलितार्थ यह हुआ कि जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कट बन्ध द्वारा जुड़ी हुई हड्डियों पर तीसरी

पट्टि की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और इन तीनों को वेधने वाली वज्र की भांति कठोर हड्डी की कील है उसे वज्र ऋषभनाराच संहनन कहते हैं। संघयन अथवा संहनन का अर्थ है हड्डियों की दृढ़-शिथिल रचना या बन्ध विशेष (Formation of bony skeleton.)

समचतुरस्र—शरीर की वह आकृति जो पालथी (चोकड़ी) मारकर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण-आसन से कपाल दोनों घुटने, बायें घुटने से दायां कन्धा, दायें कंधे से बायां घुटना, ये समान हैं। अर्थात् इनका अन्तर समान है। वह समचतुरस्र है। सम=बराबर, चतु=चार, अस्र=कोण। संस्थान का अर्थ है आकार, शक्ल (Figures)

नोट—संहनन, संस्थान आदि के विशेष ज्ञान के लिए देखें 'तत्व-चिन्तामणि' भाग २ संहनन द्वार, संस्थान द्वार।

मान—द्रोण प्रमाण जल मान है। द्रोण का अर्थ है कठवत, एक प्राचीन माप जो प्रायः सोलह सेर के बराबर होता था, अथवा जल रखने का काठ का एक पात्र। इस जल भरे कुण्ड में कोई पुरुष बैठे और वह जल निकल जाय तो वह द्रोण परिमाण है तथा वह पुरुष मानोपपन्न कहा जाता है।

उन्मान—तुला के तोलने पर अर्द्ध भार जितना शरीर बोझा (गुरुत्व) है। उसे उन्मान कहते हैं। भार से अभिप्राय बीस पसेरी के परिमाण से है अथवा दो हजार पल की एक पुरानी तोल को भार कहते हैं।

प्रमाण—माप, आत्मांगुल-अपनी अंगुली से शरीर का एक सौ आठ अंगुल प्रमाण होना।

ये मान आदि तीन लक्षण माने गए हैं। उपर्युक्त परिमाण जितना शरीर शुभ है। अतः देवाधिदेवों का शरीर इन लक्षणों से युक्त होता है।

उत्थानिका—कवि भगवान् के उक्त अतिशय सुन्दर शरीर के वर्ण का कथन करता है जिससे कि वह अत्यधिक कान्तिमान है—

छन्द : दोहा

केते जिनवर हेम छवि, केते गोरे श्याम।
राते नीले धवल छवि, सुन्दर अति अभिराम ॥९॥

मूलार्थ—(पूर्वोक्त) चौबीस तीर्थङ्कर देवों में से कितने ही स्वर्ण सदृश पीत वर्ण—आभा वाले हैं, कितनेक गौर तथा श्याम-कृष्ण) वर्ण वाले तथा कई एक रक्त, नील एवं श्वेत वर्ण से युक्त अतिशय सुन्दर प्रतीत होते हैं।❀

विवेचन—शरीर पुद्गल निर्मित है, पुद्गलवर्ण गन्ध, रस और स्पर्श गुण वाला होता है किन्तु वह भी शुभ अशुभ भेद से दो प्रकार हो जाता है। शुभ वर्ण में एक आकर्षण, सुन्दरता तथा दमक रहती है। शरीर का केवल वर्ण युक्त होना ही पर्याप्त नहीं उसमें सहज आकर्षण एवं सौम्यता गुण का होना अनिवार्य है। तीर्थ-ङ्करदेवों का शरीर शुभपुद्गलों से बना होता है और उसका वर्ण भी।

तीर्थङ्करदेवों के शरीर का वर्ण भिन्न २ होता है। किसी का

❀ पउमाभ वासुपुज्ज रत्ता.........................हरिभद्रीय आ० ३७६–७७

छन्द : दोहा

केते प्रभु सुकुमार पद, केते मण्डल राज ।
चक्रवर्ति केते भए, निधि रतना युत साज ॥१०॥

मूलार्थ—(उन ललामवर्ण से युक्त सुडोल शरीर वाले देवाधिदेवों में दीक्षित होने से पूर्व) कितने ही कुमार-अवस्था वाले कितने माण्डलिक राजा तो कई एक नव-निधि, चौदह रत्न आदि ऋद्धि से युक्त चक्रवर्ती सम्राट होते हैं ।

विवेचन—यह प्राकृतिक नियम सा ही है कि अवतार पुरुष क्षत्रिय वंश एवं राजकुल में ही जन्म लेते है । किन्तु यह आवश्यक नहीं कि राज्य करके भुक्त भोगी बनकर फिर दीक्षित हों अतः कितने ही तीर्थंकर विवाहित हैं । कई शासक बनकर राज्य छोड़कर संयम मार्ग में आये हैं । इसी प्रकार कई अविवाहित रहे और राजपद ग्रहण नहीं किया तथा कई ऐसे भी हुए जिन्होंने विवाह तो किया किन्तु शासक न बने । जिस प्रकार बारहवें तीर्थंकर श्री वासु पूज्यजी, १६वें श्री मल्लिनाथजी २२वें श्री अरिष्ट नेमिजी, २३वें श्री पार्श्वनाथजी तथा २४वें श्री महावीर स्वामी जी सुकुमार पद से ही प्रथम वय (कुमारावस्था में) तीर्थंकरावस्था में आये ।× तथा इनमें से भी श्री मल्लिनाथजी, अरिष्ठ नेमिजी

× वीरो अरिट्ठ नेमि पासो मल्लि य वासुपुज्जो ।
पढ़म वए पव्वइया, सेसा पुण पच्छिम वयम्मि ॥ हरि०भा० २२५
पंच तित्थयरा कुमार वास मज्झे वसिता मुंड़े जाव पव्वइया । तंजहा वासुपुज्जे, मल्ली, अरिट्ठनेमी पासे वीरे ।— स्था०५३०२
'मल्लिनेमि मुंत्तु तेसिं विवाहो य भोगफला'—सप्तति शत० ५३।३४

छन्द : दोहा

परम उदारिक तन विषे, राजत श्री जिनचंद ।
सासोसास सुगन्ध मय, वन्दो परमानन्द ॥११॥

मूलार्थ—वे जिनचन्द्र अत्यधिक श्रेष्ठ-प्रधान पुद्गलों से निर्मित शरीर में शोभायमान हैं अर्थात् अतिशय सुन्दर शरीर वाले हैं जिनके श्वासोच्छ्वास में अद्भुत सुरभि-सुगन्धि निवास निवास करती है तथा जो परम आनंद-अव्याबाधित मोक्ष सुख में लीन हैं; ऐसे परमानन्दस्वरूप जिनेश्वर देव को नमस्कार हो ।

विवेचन—जिनदेवों का शरीर पूर्वोक्त लक्षण आदि से युक्त होता है तथा कवि ने 'औदारिक' विशेषण दिया है । औदारिक का अर्थ है उदार-प्रधान, ओराल-विस्तार या विशाल और उरल-स्वल्प प्रदेशोपचित । शुभ परमाणुओं से निर्मित होने से तीर्थंकर गणधर का शरीर उदार-प्रधान है । शरीर की पांच सौ से एक सहस्र धनुष तक लम्बाई वाला होने से यह ओराल-विस्तृत है । (देव शरीर भी इतना दीर्घ नहीं होता) तथा स्वल्प-प्रदेशोपचित होने पर भी स्थूल--मोटा होता है शेष शरीर वैक्रियादि सूक्ष्म होते हैं । मृत्युपरान्त भी तीर्थंकर देव का यह प्रधान शरीर छह मास तक दुगन्धपूर्ण नहीं होता । साथ ही उसमें एक और विशेषता होती है कि वह चरम होता है अर्थात् इस शरीर के बाद उन्हें दूसरे शरीर को धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती तथा उनका श्वास और उच्छ्वास पद्म-कमल की गंध जैसा सुगन्धित होता है ।

संगति—आगम में वर्णित है—पउमुप्पल गंधिए उस्सास निस्सासे ।
—सम० ३४,

था। उन्होंने न अन्य लिंग (स्थविर कल्प) न गृहस्थ वेष और न ही कुलिंग—शाक्य, बौद्धभिक्षु-वेष में साधना की है।※ देवाधिदेव का यह मुनि वेष है जिसे कवि ने 'गहि चरित्र मुनि वेष' कहा है। इसके सम्बन्ध में भी वृद्ध कथन है कि यह इन्द्र प्रदत्त होता है और वह मित काल अथवा जीवन पर्यन्त भी रहता है। भगवान् महावीर का वस्त्र एक वर्ष से कुछ अधिक रहा।

आज के मुनि-वेष को देखते हुए एक प्रश्न मन में उठता है कि यह उसके विपरीत क्यों ? क्या दिगम्बर परम्परा ठीक नहीं। आचार्यों ने समाधान दिया है कि तीर्थङ्कर स्वयं बुद्ध, अनन्त शक्ति समपन्न तथा शारीरिक बल से युक्त होते हैं, अतएव वे कल्पातीत होते हैं तथा वे जन साधारण के कल्याण के लिए मार्ग एवं आदर्श का विधान करते हैं क्योंकि सभी प्राणी समान शक्ति वाले नहीं होते अतः जो उन्होंने आज्ञाएं प्रदान की हैं उन्हें पालन करना ही कर्तव्य है और उन्हीं की आज्ञाओं के आधार पर वर्तमान मुनि वेष निश्चित है। अर्थात् दो प्रकार के के मार्गों का विधान है : जिन कल्प और स्थविर कल्प। यह स्थविर कल्प पद्धति है (वस्त्र, पात्र, आहार और शैय्या-वसति) इसमें इतना अवश्य है कि समय समय पर उसमें युगानुकूल

※ सव्ववि एग दूसेण णिग्गया जिणवरा चउवीसं।
ण य णाम अण्णलिंगे ण य गिहि लिंगे कुलिंगे य ॥

—सम० २३ सू० १०६२ पृष्ठ

× शरीर-ज्ञान के लिए देखें अनुवादक द्वारा संपादित 'तत्वचिन्तामणि' '३ भा० शरीर द्वार

परिवर्तन तो होता रहा है उन उपकरणों की बनावट और धारण करने में।

शास्त्रीय कथन है कि ये उत्तम पुरुष सामान्य साधक की तरह मुनि वेष को धारण करते ही देशना नहीं देते किन्तु तपश्चरण आदि उग्र साधना से आत्मा की अनन्त २ शक्ति के आवरक कर्म को नष्ट कर अनन्त अनन्त शक्ति पुंज बनकर ही अन्य को प्रतिबोधित करते हैं, इससे पूर्व नहीं।

वस्तुस्थिति भी यही है। उपदेशक के उपदेश का प्रभाव दो कारणों से मनुष्य के हृदय पर पड़ता है—स्वयं कथन का आचरण करने से और प्रत्येक स्थिति का स्वय अध्ययन एवं अनुभव प्राप्त करने से। इनके अभाव में वह न तो ठीक से मार्ग-दर्शन ही कर सकेगा और न ही तत्व का सम्यग् निरूपण। अतः तीर्थङ्कर देव आत्मासाक्षाता (पूर्ण) होने पर ही उपदेश, धर्म देशना आदि देते हैं। कहा भी है—

जे आययो परओ वावि णच्चा, अलमप्पणो होति अलं परेसिं,
तं जोई भूयं च सयावसेज्जा, जे पउ कुज्जा अणुवीइ धम्मं।
—सू० १२।१६

अर्थात् जो स्वयं या दूसरों के द्वारा धर्म को जानकर उसका उपदेश देता है वह अपनी तथा दूसरों की रक्षा करने में समर्थ है। जो सोच विचार कर धर्म को प्रकट करता है उस ज्योति स्वरूप मुनि के निकट सदा निवास करना चाहिए।

संगति—रायसिरि मुवक्कमिता, तवचरणं दुच्चरं अणुचरिता।
केवल सिरि मरिहंता (अरिहंता हंतु में सरणं) ॥१४॥

टिप्पणी—केवली=केवल ज्ञान से युक्त पुरुष ।

घनघातिक—"सूर्य को बादल" की तरह आत्मा के गुण-ज्ञान, दर्शन की बादल की तरह घात करने वाले ज्ञानावरण आदि चार कर्म घातिक कर्म कहलाते हैं ।

उत्थानिका—ग्रन्थकार जिनेश्वर देव के ज्ञान का प्रस्तुत पद्य में वर्णन करता है कि कब, किस अवस्था में, कितना और कौनसा ज्ञान होता है—

छन्द : दोहा

मति श्रुत+ज्ञान सुअवधि धर, मनपर्यव रिपि रूप ।
कर्म घातकी क्षय करी, केवल ज्ञान अनूप ॥१३॥

मूलार्थ—देवाधिदेव गर्भावस्था से ही मति, श्रुत तथा परम अवधि ज्ञान के धर्ता होते हैं और चतुर्थ मनःपर्यव नामक ज्ञान दीक्षित होने पर ऋषि अवस्था में उत्पन्न हो जाता है तो पश्चात् तपश्चरण से ज्ञानावरण आदि घातिक कर्मों के क्षय करने पर अलौकिक पांचवें केवल्यज्ञान को प्राप्त करते हैं ।

विवेचन—अत्यन्त पुण्योदय तथा लघुकर्मी एवं चरम शरीरी होने के कारण तीर्थङ्कर देव उक्त ज्ञान से युक्त होते हैं । दूसरा कारण है कि ये ज्ञान पूर्व भव में होते हैं और इसी परिणति में आयु, भव आदि का उच्छेद कर यहां जन्म लेते हैं । अतः मति आदि तीन ज्ञानों की संगति है क्योंकि ये देव एवं नारक भव से

+ 'अवधि सुज्ञान' इत्यपि पाठः क्वचित् दृश्यते ।

स्वर्ण की तरह पीला तो किसी का गौरा आदि। अर्थात् शुभ वर्ण नाम कर्मोदय से शरीर का वर्ण शुभ एवं सौम्य होता है। चौवीस तीर्थङ्करों में से प्रथम तीर्थङ्कर से पांचवें तथा सातवें, दसवें, ग्यारहवें और तेरहवें से अठारहवें तथा इक्कीसवें एवं चौवीसवें तीर्थङ्कर कंचन वर्ण वाले थे। छठे और बारहवें लाल वर्ण वाले थे एवं ८वें, ९ वें तीर्थङ्कर स्फटिकरत्न (चन्द्र के समान गौर) की भांति श्वेत वर्ण वाले थे। १९वें मल्लिनाथजी एवं २३ वें पार्श्वनाथजी नील वर्ण वाले भग० मुनिसुव्रतजी और अरिष्टनेमि जी श्याम वर्ण के थे।

शंका—देवाधिदेव का शरीर पांच वर्ण वाला होता है यह एक विस्मयजनक उल्लेख है।

समाधान—नहीं, आज भी अन्य प्राणधारी पांच वर्णों तथा मनुष्य भी कृष्ण, गौर तथा रक्त वर्ण वाले दिखाई देते है—अफ्रीकी, रशियन, अफगान आदि।

संगति—दो तित्थयरा नीलुप्पल समा वन्नेणं पण्णत्ता। तं जहा—मुणिसुव्वए चेव, अरिट्ठणेमि चेव। दो तित्थयरा पियंगुसमा वन्नेण पं० तं० मल्ली चेव पासे चेव। दो तित्थयरा। पउम गोरा वण्णेणं पण्णत्ता। तं० पउमप्पहे चेव वासुपुज्ज चेव। दो तित्थयरा। चंद गोरा वण्णेणं पण्णता। तं जहा-चंदप्पभे चेव पुप्फदंते चेव। वरमकृत्रिमं तापतिं यत्कनकं तद्वद गोरा शेषा षोड़श तीर्थङ्करा ज्ञातव्या।'—स्था० २।४।३०

उत्थानिका—अब कवि अरिहंत देव के तीर्थङ्कर-भगवद् पद पर प्रतिष्ठित होने से पूर्व की स्थिति का वर्णन करता है कि वे क्या और कैसे थे—

छन्द : दोहा

केते प्रभु सुकुमार पद, केते मण्डल राज ।
चक्रवर्ति केते भए, निधि रतना युत साज ॥१०॥

मूलार्थ—(उन ललामवर्ण से युक्त सुडोल शरीर वाले देवाधिदेवों में दीक्षित होने से पूर्व) कितने ही कुमार-अवस्था वाले कितने माण्डलिक राजा तो कई एक नव-निधि, चौदह रत्न आदि ऋद्धि से युक्त चक्रवर्ती सम्राट होते हैं।

विवेचन—यह प्राकृतिक नियम सा ही है कि अवतार पुरुष क्षत्रिय वंश एवं राजकुल में ही जन्म लेते है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि राज्य करके भुक्त भोगी बनकर फिर दीक्षित हों। अतः कितने ही तीर्थंकर विवाहित हैं। कई शासक बनकर राज्य छोड़कर संयम मार्ग में आये हैं इसी प्रकार कई अविवाहित रहे और राजपद ग्रहण नहीं किया तथा कई ऐसे भी हुए जिन्होंने विवाह तो किया किन्तु शासक न बने। जिस प्रकार बारहवें तीर्थंकर श्री वासु पूज्यजी, १९वें श्री मल्लिनाथजी २२वें श्री अरिष्ट नेमिजी, २३वें श्री पार्श्वनाथजी तथा २४वें श्री महावीर स्वामी जी सुकुमार पद से ही प्रथम वय (कुमारावस्था में) तीर्थंकरावस्था में आये।× तथा इनमें से भी श्री मल्लिनाथजी, अरिष्ठ नेमिजी

× वीरो अरिट्ठ नेमि पासो मल्लि य वासुपुज्जो।
पढ़म वए पव्वइया, सेसा पुण पच्छिम वयम्मि ॥ हरि०भा० २२५
पंच तित्थयरा कुमार वास मज्झे वसिता मुंडे जाव पव्वइया। तंजहा वासुपुज्जे, मल्ली, अरिट्ठनेमी पासे वीरे।— स्था०५।३०३
'मल्लिनेमि मुंत्त तेसिं विवाहो य भोगफला'—सप्तति शत० ५३।३४।

अविवाहित थे। शेष तीर्थङ्कर पिछली वय में दीक्षित हुए तथा १६-१७-१८ वें तीर्थङ्कर माण्डलिक राजा थे और ये ही यही आगे चलकर षट्खण्डाधिपति-चक्रवर्ति सम्राट हुए हैं और शेष मांण्डलिक राजा थे।*

टिप्पणी—सुकुमारपद—कुमारावस्था, इसके यहां तात्पर्य राजकुमार अवस्था से है न कि कुंवारेपन से, अविवाहित को भी कुंवर या कुमार कहा जाता है। पर पद की अपेक्षा विवाहित भी जिसे अभी सेठ, राजा आदि का पद प्राप्त न हुआ हो राजकुमार, श्रेष्ठि कुंवर आदि कहलाता है। राजस्थान में आज में आज भी 'राजकुमार तथा श्रेष्ठी पुत्र कुंवर साहब' ही ही कहलाता है भले ही वह विवाहित क्यों न हो जब तक पिता जीवित है पुत्र कुंवर ही रहेगा।

मण्डल राज—अनेक राजाओं के राज्य का समूह 'मण्डल' या 'गण' कहलाता है और उसका प्रधान अधिपति माण्डलिक राजा कहलाता है। अथवा मण्डल या प्रांत का शासक।

उत्थानिका—कवि पुनः उपसंहार के रूप में शरीर की विशेषता का उल्लेख करता हुआ वन्दना करता है।

---

* 'अवसेसा तित्थयरा मंडलिया आसिराया'—सत०

तओ तित्थयरा चक्कवट्टी होत्था—संती, कुंथू, अरो।

—स्था० ३। ४। ३८

छन्द : दोहा

परम उदारिक तन विषे, राजत श्री जिनचंद।
सासोसास सुगन्ध मय, वन्दो परमानन्द ॥११॥

मूलार्थ—वे जिनचन्द्र अत्यधिक श्रेष्ठ-प्रधान पुद्गलों से निर्मित शरीर में शोभायमान है अर्थात् अतिशय सुन्दर शरीर वाले हैं जिनके श्वासोच्छ्वास में अद्भुत सुरभि-सुगन्धि निवास निवास करती है तथा जो परम आनंद-अव्याबाधित मोक्ष सुख में लीन हैं; ऐसे परमानन्दस्वरूप जिनेश्वर देव को नमस्कार हो।

विवेचन—जिनदेवों का शरीर पूर्वोक्त लक्षण आदि से युक्त होता है तथा कवि ने 'औदारिक' विशेषण दिया है। औदारिक का अर्थ है उदार-प्रधान, ओराल-विस्तार या विशाल और उरल-स्वल्प प्रदेशोपचित। शुभ परमाणुओं से निर्मित होने से तीर्थंकर गणधर का शरीर उदार-प्रधान है। शरीर की पांच सौ से एक सहस्र धनुष तक लम्बाई वाला होने से यह ओराल-विस्तृत है। (देव शरीर भी इतना दीर्घ नहीं होता) तथा स्वल्प-प्रदेशोपचित होने पर भी स्थूल--मोटा होता है शेष शरीर वैक्रियादि सूक्ष्म होते हैं। मृत्युपरान्त भी तीर्थंकर देव का यह प्रधान शरीर छह मास तक दुगन्धपूर्ण नहीं होता। साथ ही उसमें एक और विशेषता होती है कि वह चरम होता है अर्थात् इस शरीर के बाद उन्हें दूसरे शरीर को धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती तथा उनका श्वास और उच्छ्वास पद्म-कमल की गंध जैसा सुगन्धित होता है।

संगति—आगम में वर्णित है-पउमुप्पल गंधिए उस्सास निस्सासे।
—सम० ३४,

उत्थानिका—तीर्थङ्करदेव के चरित्र ग्रहण के सम्बन्ध में अब कवि स्पष्ट करता है—

छन्द : दोहा

राज रिद्ध सुख भोग तज, गहि चारित्र मुनि वेस ।
कर तप संजम केवली, देत धर्म उपदेश ॥१२॥

मूलार्थ—ये महर्द्धिक पुरुष राज्य, ऋद्धि, ऐन्द्रिय सुख आदि साधनों को त्यागकर मुनिवेष युक्त अहिंसादि महाव्रत रूप चारित्र को ग्रहण करते हैं और इन्द्रियादि संयम तथा बाह्याभ्यंतर तप का आचरण कर केवली बन जाते हैं अर्थात् केवल–सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त हो जाते हैं और पश्चात् (सर्वविरति एवं देश विरति रूप) श्रुत-चारित्र धर्म का उपदेश देते हैं ।

विवेचन—कवि ने स्पष्ट किया है कि वे राजा, माण्डलक, चक्रवर्ती रूप में रहे भावी देवाधिदेव दीक्षित होने से पूर्व दान धर्म के निरूपणार्थ एक वर्ष का 'वर्षी' दान देते है । सर्व प्रकार के परिग्रह–वन्धनों सम्बन्धों को छोड़कर मुनि, श्रमण और तपस्वी बन जाते हैं और कठोर संयम एवं तपश्चरण से ज्ञानावरण आदि चार घनघातिक कर्मों का क्षय करते हैं । जिसके फलस्वरूप उनकी आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र एवं अनन्त सुख, ये चार महा-शक्तियां उद्भूत होती हैं । यह आत्मावस्था केवल ज्ञानावस्था कहलाती है जो केवली, अर्हत आदि नाम से पुकारी जाती है ।

आगम में उल्लिखित है कि सब जिनवर यानी २४ तीर्थङ्कर ही एक दूष्य सहित मुनि मार्ग में निकले हैं । यही उनका वेष

था। उन्होंने न अन्य लिंग (स्थविर कल्प) न गृहस्थ वेष और न ही कुलिंग—शाक्य, बौद्धभिक्षु-वेष में साधना की है।※ देवाधिदेव का यह मुनि वेष है जिसे कवि ने 'गहि चरित्र मुनि वेष' कहा है। इसके सम्बन्ध में भी वृद्ध कथन है कि यह इन्द्र प्रदत्त होता है और वह मित काल अथवा जीवन पर्यन्त भी रहता है। भगवान् महावीर का वस्त्र एक वर्ष से कुछ अधिक रहा।

आज के मुनि-वेष को देखते हुए एक प्रश्न मन में उठता है कि यह उसके विपरीत क्यों ? क्या दिगम्बर परम्परा ठीक नहीं। आचार्यों ने समाधान दिया है कि तीर्थङ्कर स्वयं बुद्ध, अनन्त शक्ति समपन्न तथा शारीरिक बल से युक्त होते हैं, अतएव वे कल्पातीत होते हैं तथा वे जन साधारण के कल्याण के लिए मार्ग एवं आदर्श का विधान करते हैं क्योंकि सभी प्राणी समान शक्ति वाले नहीं होते अतः जो उन्होंने आज्ञाएं प्रदान की हैं उन्हें पालन करना ही कर्तव्य है और उन्हीं की आज्ञाओं के आधार पर वर्तमान मुनि वेष निश्चित है। अर्थात् दो प्रकार के के मार्गों का विधान है : जिन कल्प और स्थविर कल्प। यह स्थविर कल्प पद्धति है (वस्त्र, पात्र, आहार और शैय्या-वसति) इसमें इतना अवश्य है कि समय समय पर उसमें युगानुकूल

※ सव्ववि एग दूसेण णिग्गया जिणवरा चउवीसं।
ण य णाम अण्णलिंगे ण य गिहि लिंगें कुलिंगे य ॥

—सम० २३ सू० १०६२ पृष्ठ

× शरीर ज्ञान के लिए देखें अनुवादक द्वारा संपादित 'तत्वचिन्तामणि' '३ भा० शरीर द्वार

टिप्पणी—केवली=केवल ज्ञान से युक्त पुरुष।

घनघातिक—"सूर्य को बादल" की तरह आत्मा के गुण-ज्ञान, दर्शन की बादल की तरह घात करने वाले ज्ञानावरण आदि चार कर्म घातिक कर्म कहलाते हैं।

उत्थानिका—ग्रन्थकार जिनेश्वर देव के ज्ञान का प्रस्तुत पद्य में वर्णन करता है कि कब, किस अवस्था में, कितना और कौनसा ज्ञान होता है—

छन्द : दोहा

मति श्रुत+ज्ञान सुअवधि धर, मनपर्यव रिषि रूप।
कर्म घातकी क्षय करी, केवल ज्ञान अनूप ॥१३॥

मूलार्थ—देवाधिदेव गर्भावस्था से ही मति, श्रुत तथा परम अवधि ज्ञान के धर्ता होते हैं और चतुर्थ मनःपर्यव नामक ज्ञान दीक्षित होने पर ऋषि अवस्था में उत्पन्न हो जाता है तो पश्चात् तपश्चरण से ज्ञानावरण आदि घातिक कर्मों के क्षय करने पर अलौकिक पांचवें केवल्यज्ञान को प्राप्त करते हैं।

विवेचन—अत्यन्त पुण्योदय तथा लघुकर्मी एवं चरम शरीरी होने के कारण तीर्थङ्कर देव उक्त ज्ञान से युक्त होते हैं। दूसरा कारण है कि ये ज्ञान पूर्व भव में होते हैं और इसी परिणति में आयु, भव आदि का उच्छेद कर यहां जन्म लेते हैं। अतः मति आदि तीन ज्ञानों की संगति है क्योंकि ये देव एवं नारक भव से

'अवधि सुज्ञान' इत्यपि पाठः क्वचित् दृश्यते।

च्यवकर मनुष्य जन्म में आते हैं और वहां ये ज्ञान होते हैं।+ प्रत्येक जीवात्मा लेश्या, ज्ञान, दर्शन आदि को साथ लेकर ही आता है किन्तु प्रतिकूल परिस्थिति पाकर वे अध्यवसायों में अन्तर आ जाने से वे ज्ञानादि परिणाम नष्ट हो जाते हैं किन्तु तीर्थङ्कर देवों में ऐसा नहीं है क्योंकि इनके जीवन की परिणति सामान्य प्राणियों की अपेक्षा विशिष्ट होती है।

आगम में उल्लेख मिलता है कि भगवान् महावीर ने मातृ-कुक्षि में रहते ही माता को अधिक पीड़ित होते देखकर अंगोपांग की संकोचन प्रसारण क्रिया मन्द करदी किन्तु माता पर उसका विपरीत प्रभाव हुआ और माता तृशला गर्भ-विषय में चिन्तित हो गई। महावीर ने पुनः हचन-चलन आरम्भ किया और प्रतिज्ञा की कि जब तक माता पिता जीवित रहेंगे मैं गृह-त्याग नहीं करूंगा क्योंकि उन्हें पीड़ा असह्य होगी।

इससे प्रतीत होता है कि तीर्थङ्कर को गर्भावस्था में ही अवधिज्ञान होता है। इसके बल पर ही वे यह जान सके।

चतुर्थ मनः-पर्यवज्ञान दीक्षित होते ही उत्पन्न हो जाता है।⊛ शुभ परिणामों की अपेक्षा मनः ज्ञानावरण कर्म क्षय हो जाता है और विपुल मति मनःपर्याय ज्ञान होता है। पांचवें केवल ज्ञान के सम्बन्ध में समय की कोई नियमितता नहीं है अतः यह जब घातिक कर्म क्षय हो जाते हैं तो यह प्रकट हो जाता है।

चौवीस तीर्थङ्कर देवों के केवलज्ञान का समय भिन्न भिन्न है। कम से कम दीक्षा के एक प्रहर काल बाद और अधिक से

+ मई-सुय ओहि ति नाणा जाव गिहे पच्छिम भवाओ।

⊛ "जायं च चतुत्थं मणनाणं"—सप्ततिशत० ४४-६१

अधिक एक सहस्र वर्ष पश्चात् केवल ज्ञान हुआ है । प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव को सहस्रवर्ष छद्मस्थ पर्याय के बाद कैवल्यज्ञान उत्पन्न हुआ था और अन्तिम तीर्थङ्कर श्री वर्द्धमान जिनेश्वर बारह वर्ष और साढ़े छह मास पश्चात् केवलज्ञानी हुए। देवाधिदेवों के ज्ञान का यही क्रम है।

टिप्पणी—

मतिज्ञान—मन एवं इन्द्रियों की सहायता से होने वाला रूपी (मूर्त्त) पदार्थ का ज्ञान मतिज्ञान है। यह चार प्रकार का है—ईहा, अवग्रह, अवाय और धारणा।

श्रुतज्ञान—शब्द और उसके अर्थ की विशेष विचारणा श्रुत ज्ञान है अथवा शास्त्र द्रव्य श्रुत है और उससे होने वाला वस्तु ज्ञान भाव श्रुत है। इस ज्ञान में मन एवं इन्द्रियों की अपेक्षा होती है किन्तु मन को प्रधानता रहती है इन्द्रियां केवल रूपी द्रव्य का ही ज्ञान करती हैं जब कि मन रूपी-अरूपी दोनों का ही।

अवधिज्ञान—मन एवं इन्द्रियों की बिना सहायता से परोक्ष रूपी पदार्थों का होने वाला मर्यादित ज्ञान अवधिज्ञान है। इसमें आत्म-शुद्धि की अपेक्षा है। यह छह प्रकार का है। अनुगामिक, अनानुगामिक, हीयमान, वर्द्धमान, अवस्थित, अनवस्थित।

मनःपर्याय ज्ञान—कर्म के क्षयोपशम से होने वाला यह ज्ञान जिससे संज्ञी जीवों (मन वाले प्राणी) के मन की पर्यायों को जाना जाता है कि अमुक प्राणी ने मन में अब क्या सोचा है, क्या सोचेगा और साथ ही विचार्यमान पदार्थ के विषय में ज्ञान होना ही मनःपर्याय ज्ञान है।

पर्याय से अभिप्राय मानसिक चंचलता तथा अवस्था । अर्थात् जीव जब किसी वस्तु के विषय में विचार करता है तो उस समय विचार में सहायक जो तरंगे है वे पर्याय कहलाती है ।

केवलज्ञान—केवल का अर्थ है सम्पूर्ण, अर्थात् वह ज्ञान जिससे लोकालोक के सकल जड़-चेतन, अमूर्त-मूर्त पदार्थों के त्रैकालिक विकल्प का ज्ञान होता है केवल ज्ञान है । इसे ही सर्वज्ञता की संज्ञा से अभिहित करते हैं । अन्य ज्ञान अपूर्ण हैं मात्र यह अन्तिम ज्ञान ही पूर्ण है ।※ इसके प्रकट होने से मनुष्य वस्तु को हस्तामलकवत् जानता और देखता है ।

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में कवि उनकी शारीरिक विशेषताओं का वर्णन करता है—

छन्द : दोहा

अबढ़त कच नख अघट छवि, विष न लगत शुभ देह ।
जघन सात कर ओडके, ×पंचसे धनु गुण गेह । १४॥

मूलार्थ—देवाधिदेव के शिर आदि के केश और अंगुलियों के नाखून नहीं बढ़ते हैं और न ही वृद्धत्व आदि के कारण देह की कान्ति मन्द ही पड़ती है तथा शुभ परमाणु से निर्मित शरीर (देह) में विष भी व्याप्त नहीं होता। ऐसे विशिष्ट शरीर की

※ ज्ञान के सम्बन्ध में जानने के लिए देखें अनुवादक द्वारा सम्पादित 'तत्त्वचिंतामणि' भाग ३ में 'ज्ञान द्वार । × 'पनसय'

ऊंचाई-लम्बाई अपेक्षाकृत जघन्य सात हाथ प्रमाण और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष प्रमाणोपेत होती है (ग्रहण करनी चाहिए) ❀

विवेचन—अतीव शुभ अंगोपांग नाम कर्मोदय से शरीर के अङ्ग-उपांग और अङ्गोपांग व्यवस्थित एवं सुन्दर होने के साथ प्रमाणोपेत ही रहते हैं जिससे वे असुन्दर प्रतीत नहीं होते तथा देह के अतिशय शुभ-परमाणु के निर्मित होने से किसी बाह्य परमाणु का प्रभाव नहीं पड़ता। अतः कान्ति मन्द नहीं होती और शरीर में रहे रक्त आदि अमृतमय प्रकृति होने से जो विष के प्रतिकूल है वह (जहर) ठहर ही नहीं सकता क्योंकि एक दूसरे की प्रकृति विरुद्ध है। आगम में भी इस बात का उल्लेख है। अवट्ठिए के समंसु रोम नहे। निरामया, निरुवलेवा मायलट्ठो सम. ३४- अर्थात् देवाधिदेव के केश, श्मश्रु, रोम और नख, ये अवस्थित यानि मर्यादित रहते हैं तथा शरीर निरोग, मलों से निर्लिप्त और सुडौल आदि होता है।

उत्थानिका—अब कवि देवाधिदेव के आसन, अतिशय आदि का व्याख्यान करता हुआ धर्मदेशना की बात कहता है।

छन्द : दोहा

समोसरण पदमासणे, चौतिस अतिशय साथ,
वाणी गुण पणतीस सौं, भाषत त्रिभुवन नाथ ॥१५॥

❀ तीर्थङ्कर देवों के शरीर–अवगाहना के लिए देखें परिशिष्ट या 'तत्व-चिन्तामणि 'अवगाहना द्वार' भाग २।

मूलार्थ—उक्त विशिष्ट गुणों से युत देह वाले चौतीस अतिशियों से युक्त देवाधिदेव समवसरण में पद्मासन से विराजित होते है तथा पैंतीस गुणवाली दिव्य वाणी द्वारा त्रिभुवन-नाथ धर्म देशना—उपदेश देते हैं।

विवेचन—अतीव पुण्योदय तथा कर्मक्षय के कारण देवाधिदेव के जीवन में विशिष्ट पुरुषों की अपेक्षा कतिपय विशेषताएं भी पाई जाती है। इनमें कुछ एक शारीरिक, वाचिक तथा कई एक साधनों से सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि स्वर्ण रत्न के संयोग को पाकर जिस प्रकार अधिक दीप्त हो जाता है उसी प्रकार तीर्थङ्कर देव इन विशेषताओं को प्राप्त कर अत्यधिक शोभायमान लगते हैं।

अपने से अन्य में तनिक सी विचित्रता देखकर सामान्य पुरुष विस्मित एवं आह्लादित हो उठता है यदि वह तीर्थंकर देव के अतिशय मनोहारी रूप को देखकर-आश्चर्यान्वित होकर उनसे सर्वथा सर्वदा प्रभावित हो जाय तो यह अनुचित नहीं, सम्भव ही है। ये विशेषताएं (अतिशय) चौतीस हैं।*

कवि ने 'समोसरण पदमासणे' पद कह कर उस परम्परा का ज्ञान कराया है कि तीर्थङ्कर देव जहां विराजित होते हैं, धर्मदेशना देते है वहां देव एक समवसरण (मंडप) की रचना करते हैं। जिसमें सिंहासन, छत्र, चंवर, अशोक वृक्ष, भामण्डल आदि अष्टप्रातिहार्य का उद्भव होता है तथा उस सिंहासन पर देवाधिदेव पद्मासन से विराजित रह अपनी वाणी वैचित्र्य से धर्म देशना देते हैं।

---

* देखें परिशिष्ट अतिशय और वाणी गुण के लिए।

तीर्थङ्कर पद्मासन से ही बैठते हैं। ऐसा कवि का आशय है। अर्थात् कायोत्सर्ग=ध्यान, समाधि वेला में व अर्द्ध मुंदित नेत्र, आजानु भुजाएं आदि यथाजात मुद्रा से खड़े रहते हैं और बैठते हैं तो पद्मासन से। यह आसन-आकृति मुद्रा कहलाती है। तीर्थङ्कर देव का यह आसन होने से जिन मुद्रा कही जाने लगी है। यह आसन सर्वोत्तम माना गया है। इससे मन, इन्द्रियां केन्द्रित रहती है तथा शरीर आलस्य एवं शैथल्य रहित रहता है। कहीं कहीं योग और समवसरणावस्था में पर्यंकासन का भी वर्णन मिलता है। यथा 'योग ने समोसरण, मुद्रा परिपल्यंक आसनं।' पर्यंकासन--सुखासन, लोकभाषा में इस पलहत्थी, पालत्थी कहते है किन्तु पद्मासन की अधिक महत्ता और उल्लेख है।

आसन (बैठना) सभ्यता एवं उत्कर्षता तथा साधना का प्रतीक है। इसके अभाव में शरीर आदि की परवशता ही रहती है।

तीसरी बात कवि ने चौतीस अतिशय, पैंतीस वाणी गुण की कही है। तीर्थङ्कर देव अतिशय युक्त होते हैं। अतिशय का सामान्य अर्थ है विचित्र विशेषताएं। यह दो प्रकार का है—देवकृत तथा स्वाभाविक। समवसरण, अष्टप्रातिशर्यादि देवकृत होते हैं तथा शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक विशेषताएँ स्वाभाविक हैं। इनके कारण जन-साधारण आकर्षित होता है।

वाणी में अद्भुत शक्ति है हृदय परिवर्तन की। इसके पैंतीस गुण हैं जिसका विवेचन कवि आगे स्वयं करेगा।

संगति—निम्न गाथा की संगति उक्त पद से ठीक मिलती है।

'ओसरणमवसरिता, चउतीस अइसए निसेविता।
धम्मं कहं च कहंता ...... ।—स उ० प० गा० २८।

उत्थानिका—ग्रन्थकार भगवान् की वाणी की विशेषता प्रकट करता है कि वह अलौकिक एवं दिव्य वाणी जिसे प्रत्येक जीव अपनी भाषा में ग्रहण करते हैं—

छन्द : दोहा

मानव सुर तिर्यंच+जिय, भव्य सुने चित लाय।
निज निज भाषा मांहि सब, अर्थ समझ सुख पाय ॥१६॥

मूलार्थ—(जिनेश्वर देव द्वारा उच्चरित वाणी को) मनुष्य देव, पशु आदि भव्य जीव एकाग्र चित्त होकर सुनते हैं तथा वे सब अपनी अपनी भाषा—बोली में ही उसके अर्थ को समझकर आनन्दित होते हैं।

विवेचन—देवाधिदेव की वाणी की यह अपूर्व विशेषता है कि भिन्न देशों व स्थानों में निवास करने वाले प्राणी भी अपनी अपनी भाषा में अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् एक अर्द्ध-मागधी भाषा के उच्चारण से अनुदित होकर बत्तीस सहस्र भाषा का अर्थ प्रकट करती है। आज के युग में किसी भाषा से अनभिज्ञता होने के कारण दुभाषिये (Interpretor) की आवश्यकता रहती है किन्तु अतिशय पुण्य के योग से तीर्थङ्कर देव की वाणी नाना बोलियों में स्वयं ही परिणत हो जाती है और श्रोता उन्हें अपनी २ भाषा में व्याख्यान देता हुआ जानते हैं।

शास्त्र में उल्लेख है कि देवाधिदेव द्वारा बोली जाती हुई वह अर्द्धमागधी भाषा आर्य, अनार्य, दुष्पद, चतुष्पद, मृग, पशु-

---

+ छन्द भङ्ग होता है 'जिय' के स्थान 'जीय' चाहिए।

पक्षी, सरीसीव आदि की अपनी-अपनी हित, कल्याण (शिव) सुख, सतामय भाषा रूप में परिणत हो जाती है।

संगति—सा वियणं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आयरियमणारियाणं, दुप्पय, चउप्पय, मिय, पसु, पक्खि सरिसिवाणं अप्पप्पणो हिय-सिव सुहसाय भासत्ताए परिणमइ। —सम० ३४, २३

उत्थानिका—कवि तीर्थङ्कर देवों की आयुष्य का संकेत करता हुआ अवतरण का वर्णन करता है—

छन्द : दोहा

चौरासी*लख पुव्व लग, जघन बहत्तर वास।
सूषम-दूषम अंत धुर, × दूषम-सूषम वास ॥१७॥

मूलार्थ—तीर्थंकर देवों की अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) आयु चौरासी लक्ष पूर्व तथा जघन्य (कम से कम) बहत्तर वर्ष की होती है।+ तथा ये धर्मनायक अवसर्पिणी काल में क्रमशः सुखम-दुःखम नामक तीसरे आरे के अन्त में और दुःखम-सुखम नामा चौथे आरे के सभी भाग में ही उत्पन्न होते हैं (धर्मदेशना देते है तथा निर्वाण को प्राप्त करते हैं) इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के दुःखम-सुखम नामक तीसरे आरे के सम्पूर्ण भाग में और सुखम-दुखम नाम वाले चौथे आरे के अन्त (भाग) में उत्पन्न आदि होते हैं।

विवेचन—भरत क्षेत्र के तीर्थङ्कर देवों का आयुष्य (Age) कम से कम बहत्तर वर्ष तथा अधिक से अधिक चौरासी लाख

---

* 'चउरासी' + देखें परिशिष्ट आयु के लिए। × धर।

पूर्व का होता है। इनका प्रादुर्भाव तृतीय आरक के अन्त से चतुर्थ आरक तक काल में ही होता है। × इससे पूर्व अथवा पश्चात् नहीं क्योंकि इस युग में साधनों की अनुकूलता नहीं रहती। अर्थात् भगवान् ऋषभदेव का जन्म तृतीय आरक के अन्त में हुआ था और शेष तीर्थङ्करों का चतुर्थकाल में। उत्सर्पिणी काल में तृतीय आरक में २३ तीर्थङ्कर तथा चतुर्थ के प्रथम भाग में एक यानी २४वें तीर्थङ्कर जन्म लेते हैं और मोक्ष चले जाते हैं। अवसर्पिणी से उत्सर्पिणी काल विपरीत होता है।

आरा या आरक जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसका तात्पर्य काल विभाग से है अर्थात् आरे की भांति समय का विभाजक। समूचे काल को दो भागों में बांटा गया है—अवसर्पिणी उत्सर्पिणी, तथा ये दोनों छह भागों में विभक्त हैं—सुखम-सुखम, सुखम, सुखम-दुखम, चौथा दुःखम-सुखम, दुःखम और छठा दुःखम-दुःखम। इनका नामकरण प्राणियों के सुख-दुख की अनुभूति (Feelings) पर तथा वस्तुओं, प्रकृति के उत्कर्ष अपकर्ष पर हुआ है। इनका अर्थ स्पष्ट ही है। "सुखम-सुखम" यानी अत्यन्त सुखप्रद काल आदि। इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल है जो व्युत्क्रम से है। उत्सर्पिणी काल वर्द्धमान काल है क्योंकि इसमें प्रकृति वस्तुएँ सत्त्व युक्त होती हैं। अतः उत्कर्ष काल कहलाता है और अवसर्पिणी काल हीयमान—अपकर्ष काल, इनमें प्रत्येक वस्तु सत्त्वहीन होती चली जाती है।

इन्हें क्रमशः हीयमान और वर्द्धमान काल कहा गया है। एक एक काल दस कोटा-कोटी सागर मान का होता है। पहला आरा ४ कोटा०, दूसरा ३ कोटा०, तीसरा २ कोटा०, चौथा एक

× आयु के लिए देखें परिशिष्ट।

कोटा० सागर ४२ हजार वर्ष कम, ५वां ६ठा क्रमशः २१ हजार वर्ष के होते हैं।

उत्सर्पिणी के आरक व्युत्क्रम से माने जाते हैं जैसे पहला छठे की तरह २१ हजार वर्ष का आदि।

संगति—इमीसे ओस० सुसम दुस्समाए""समाए पच्छिमेतिभाए पलिओवमद्ध भागावसेस""उसहे णामं अरहा""पढम तित्थगरे""समुप्प-जित्था।३५।"" दूसम-सुसमा णामं समाकाले पडिवज्जिसु"" तीसेणं समाए तओ वंसा समुप्पजित्था, तं जहा-अरहतवसे""चक्कवट्टी दसारवंसा तीसीणे समाए तेवीसं तित्थयरा ३.""समुप्पज्जित्था।
एत्थणं दुसमा सुसमा णामं समाकालेपडि०""तीसेणं समाए तओवंसा""
—जम्बू० प्र० ७६ काला०

टिप्पणी—पुव्व=पूर्व, एक काल विशेष का परिमाण, संख्येय काल जो जैन दर्शन के गणितानुयोग में आता है। अर्थात् चौरासी लाख वर्ष को चैरासी लाख वर्ष से गुण करने पर पूर्व का एक अङ्ग होता है। अतः अङ्ग को पुनः अङ्ग से गुणन करने पर पूर्व होता है।

उत्थानिका—उक्त काल में होने वाले देवाधिदेव चक्रवर्ती आदि द्वारा वंदित होते हैं :—

छन्द : दोहा

कै जिन पग चक्री लगे, कै हरि बल वंदेह+।
मंडलीक राजे घणे, सभ जिन भज सुख लेह॥

+ वंदे केई, लेई, पदान्त में पाठ है।

मूलार्थ—जिनेन्द्र देव के चरण--पद्मों में कई चक्रवर्ती सम्राट् नत होते हैं। कितने ही वासुदेव क्षत्रिय-त्रिखण्डाधिपति व बलदेव नरेश्वर वंदन करते हैं तथा अनेक मांडलिक राजादि चरणनत हो, इनका स्मरण, सेवादि करके दिव्य सुख को प्राप्त करते हैं।

विवेचन—तीर्थंकर देवों के समकालीन ही चक्रवर्ती आदि प्रजासत्ताक होते हैं जो ऋद्धि, शरीर एवं वस्तु के शासक होते हैं, किन्तु देवाधिदेव प्राणी हृदय के शासक होते हैं। कवि के कथन का उद्देश्य है कि ये महर्द्धिक पुरुष भी इनकी महानता के आगे नत होते हैं क्योंकि वे धर्मवीर तप-त्याग के आदर्श होते हैं तो ये कर्मवीर और भोगवीर होते हैं।

उत्थानिका—अब ग्रन्थकार तीर्थङ्कर आदि के जन्म क्षेत्र के विषय में स्पष्ट करता है कि भारतादि क्षेत्र के किस खन्ड में होता है :—

छन्द : दोहा

भर्त ईरवर्त दस विपे, विजय एक सौ*साठ।
जिन-चक्री-हरि-बल जन्म मध्यखंड श्रुति पाठ ।१६।

मूलार्थ—पांच भरत क्षेत्र तथा पांच एरावत क्षेत्र इन दश-क्षेत्रों में, एक सो साठ विजय में तथा इनके मध्यखण्ड (आर्य खण्ड) में ही तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती वासुदेव तथा बलदेव का जन्म होता है ऐसा आगम में उल्लेख है।

विवेचन—पूर्व पद्य में कवि ने वंदन कर्ताओं का वर्णन किया

---

*'एकसउ'

है; प्रस्तुत पद्य में उन वंद्य तथा वंदकों के जन्म क्षेत्र (देश) का उल्लेख करता है कि ये (देवाधिदेव-चक्रवर्ती बलदेव वासुदेव) भरत क्षेत्र, एरवत तथा एक सौ साठ चक्रवर्ती विजयों में जन्म लेते हैं। भरतादि में मध्यखण्ड (आर्य खण्ड) में।

भरत क्षेत्र :

जैन शास्त्रों के अनुसार एक लाख योजन का जम्बूद्वीप है। वलयाकार। इसमें एक भरत, एक एरवत और एक ही महाविदेह नामक क्षेत्र है। जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊँचाई वाला मेरु नामक पर्वत है। इससे दक्षिण दिशा की ओर ४५००० हजार योजन जाएं तो जयवंतद्वार है और उसके पास भरतक्षेत्र है। इसका क्षेत्रफल ७६, १५, ३१५ वर्ग० यो० ५ कला है। भरतक्षेत्र के मध्य में वैताढ्य पर्वत है। उस पर्वत के कारण भरतक्षेत्र दो भागों में विभक्त हुआ है : दक्षिण भरत तथा उत्तर भरत।

इस भरत क्षेत्र के उत्तरी किनारे पर एक सीमान्त पर्वत है चुल्ल हिमवंत। इस पर्वत में एक पद्म नामक द्रह (हृद) है उसके पूर्व और पश्चिम द्वार से गंगा और सिन्धु नामक दो महानदियां निकल कर भरत क्षेत्र की दक्षिण दिशा की ओर से गुजरती हुई वैताढ्य पर्वत के तल से होकर दक्षिण लवण समुद्र से गिरती है। इस नदी प्रवाह के कारण भरतक्षेत्र पुनः छह खण्डों में विभक्त हो गया है।

इन छह खण्डों में बत्तीस हजार देश होते हैं। उन पर एक २ अधिपति होता है। उन सब पर एक राजा जो चक्रवर्ती सम्राट् कहलाता है। उसके पास सुदर्शन चक्र, दण्ड रत्न आदि चौदह अमोघ शस्त्र-रत्न होते हैं। इन छह खण्डों पर—पूर्ण भरत पर

इसका आधिपत्य तथा तीन खण्डों पर वासुदेव का होता है। इन बत्तीस सहस्त्र देशों में साढ़े पच्चीस देश आर्य शेष अनार्य होते हैं। ये आर्य देश उन छह खण्डों में मध्य के खण्डों में है। अतएव इनका नाम मध्य खण्ड तथा आर्य खण्ड पड़ गया है। इसमें ही तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव एवं वासुदेव जन्म लेते हैं। कवि का भी यही आशय है "जिन चक्री हरि बल जन्म, मध्य खण्ड श्रुति पाठ।"

एरवत क्षेत्र :

जम्बू द्वीप के मेरु पर्वत से ४५००० सहस्त्र योजन उत्तर में जाएं तो अपराजित द्वार आता है। उसमें एरवत क्षेत्र है। इसका क्षेत्रफल भरत जितना ही है। एरावत क्षेत्र भी वैताढ्य नाम वाले पर्वत से दो भागों में तथा शिखरी सीमान्तक पर्वत पर रहे पुण्डरीक द्रह में से निकली रक्ता और रक्तवती नदियों के प्रवाहित हो वैताढ्य के तल से गुजर कर उत्तरी लवण समुद्र में गिरती है इसलिए पुनः क्षेत्र छह भागों में बंट गया है।

भरत की भांति यहां भी बत्तीस हजार देश चक्रवर्ती, आर्य देश आदि होते हैं तथा उसी प्रकार उनमें तीर्थंकर आदि का जन्म होता है।

चक्रवर्ती विजय :

वही पूर्व वर्णित जम्बू दीप और सुमेरु पर्वत। इसके (मेरु के) पूर्व में तथा पश्चिम में महा विदेह क्षेत्र बसा है। मेरु के बीच में आने से यह पूर्व महा विदेह और पश्चिम महा विदेह नाम करण वाला हुवा। इसकी लम्बाई भद्रशाल बन तथा मेरु को मिलाकर एक लाख योजन है, चौड़ाई निषध और नीलवंत पर्वत के बीच में ३३.६८४ योजन है। पूर्व महाविदेह के मध्य भाग में सीता नदी

तथा पश्चिम महाविदेह में सीता नदी बहती है जिससे पूर्ण विदेह चार भागों में बट गया हैं। इन चार भागों में से एक एक भाग में आठ २ विजय क्षेत्र है। जम्बू मन्दिर से पूर्व में सीता महानदी के उत्तर में आठ चक्रवर्ती विजय हैं-कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छक वती यावत. पुष्कलावती। जम्बू मन्दिर के पूर्व तथा सीता महानदी के दक्षिण में आठ चक्रवर्ती विजय हैं-वत्स, सुवत्स यावत्, मंगलावती।

जम्मू मन्दिर के पश्चिम, सीतोदा नदी के दक्षिण में पद्म, सुपद्म, यावत् सलिलावती नामक आठ विजय है।

जम्बू मन्दिर से पश्चिम में सीता महानदी के उत्तर में वप्र-सुवप्र यावत् गंधिलावती नामक आठ चक्रवर्ती विजय क्षेत्र है। =एवं ३२ क्षेत्र हुए।

कवि ने पांच भरत, एरावत और एक सौ साठ विजय की बात कही है। वह क्षेत्र संख्या इस प्रकार है—

जम्बू द्वीप में एक भरत एक एरावत और ३२ चक्रवर्ती विजय है। जम्बू द्वीप के बाहर लवण समुद्र दो लाख योजन का है तथा पुनः धातकी खण्ड (द्वीप) है। यह चार लाख योजन परिधि वाला है। इसमें दो भरत, दो एरवत और चौसठ विजय क्षेत्र है।

धात्रीद्वीप के चारों ओर कालोदधि समुद्र है, आठ लाख योजन का। इसके बाद सोलह लाख योजन का पुष्कर द्वीप हैं, इसमें भी दो २ भरत, एरवत तथा चौसठ विजय हैं।

ये सर्व पांच भरत पांच एरावत तथा एक सौ साठ विजय

क्षेत्र हुये। जहां तीर्थङ्कर चक्रवर्ती, बलदेव तथा वासुदेव जन्म लेते है। यहां कर्मभूमि आर्य प्रदेश तथा सर्व प्रकार के प्राकृतिक साधन होते हैं। क्योंकि कवि ने इनका जन्म "आरज देश सुधर्म कुल, राजवंश विख्यात" में बतलाया है।

टिप्पणिः–चक्रवर्ती द्वारा जीता गया क्षेत्र-भूमि खण्ड चक्रवर्ती विजय हैं। या जिस क्षेत्र-खण्ड में चक्रवर्ती की विजय हुई है; वह चक्रवर्ती विजय कहलाता है।

संगति : जम्बूदीवे २ भरहेर वएसुवासेसु एगे समए एगजुगे दो अरिहंता वंसा उप्पजिसुवा उप्पजंति वा उप्पजिसंतिवा....। जयाणं एक्कमेक्के चक्कवट्टी विजए भगवंतो तित्थयरा समुप्पजंति–जम्बू० तौ० अ०,स्था० २

उत्थानिका :– प्रसंगवश कवि चक्रवर्ती तथा वासुदेव का एक क्षेत्र में समकालीन न होने की बात कहता है—

छन्द : दोहा

जिह चक्री तिह हरि नहीं* जिहि हरि चक्री नाहि।
एक खेत विवहूं+नहीं जिन हरि चक्र धराहि ॥२०॥

मूलार्थ : जहां चक्रवर्ती सम्राट् होता है वहां त्रिखण्डाधीश वासुदेव क्षत्रिय नहीं होता तथा जहां वासुदेव है वहां चक्री नहीं होता अर्थात् एक क्षेत्र में ये दोनों नहीं होते तथा सुदर्शन नामक चक्र के धर्ता वासुदेव भी एक समय में एक क्षेत्र में विद्यमान नहीं होते।

विवेचन : शास्त्रकारों का मत है कि षड् खण्डाधिपति चक्रवर्ती सम्राट् के होते हुए तीन खण्डपर राज्य करने वाला वासुदेव

* 'हरि ढिगचक्री नाहि' +क्षेत्र विवहोत ×देखें परिशिष्ट

राजा नहीं होता। इसका कारण यह है कि दोनों का अतिशय पुण्य होता है, चौदह रत्नों में से सुदर्शन चक्र आदि सात रत्न का स्वामी होता है। अतः एक दूसरे के अधीन नहीं होते व क्षत्रियों में भी ये श्रेष्ठ माने गये हैं "खत्तीणसेट्ठे जहदंतवक्के" अतः परस्पर पराधीन कैसे हो सकते हैं और यहां तक कि एक क्षेत्र में दो वासुदेव भी एकत्रित नहीं होते।

आगम में उल्लिखित पाण्डव रानी द्रौपदी के धातकी खण्ड द्वीपकी अमरकं की राजधानी का पद्मनाभ राजा द्वारा अपहरण, श्री कृष्ण वासुदेव का वहां जाना और सिंहनाद शब्द करना आदि × कथानक से ज्ञात होता है कि इन दोनों का परस्पर मिलन ही नहीं होता, एक क्षेत्र में उत्पन्न होना दूर रहा। आगम में तो इस शब्द मिलन को भी "अच्छेरा" (आश्चर्यजनक घटना) कहा है।

संगति : नो खलु एवं भूयं वा ३ जण्णं एगे खेत्ते एगे जुगे समए दुवे अरहंता वा चक्कवट्टी वा बलदेवा वा वासुदेवा वा उप्पज्जिसु उप्पज्जिति उपज्जिसंति वा…। नो खुल एवं भूयं वा ३ जण्णं अरहंतो वा अरहंतं पासइ चक्कवट्टी वा चक्कवट्टि पासइ बलदेवा वा बलदेवं पासइ; वासुदेव वासुदेवं पासइ। —ज्ञाता, अ० १३, सू० ३० । आ० घासी०

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में कवि पुनः स्तुति करता हुआ वन्दन करता है :—

छन्द : दोहा

द्रव भाव विध गुण सहित, दया धर्म अवतार।
वन्दों श्री जिन परम गुरु, सिमरे भव जल पार ॥२१॥

मूलार्थ—भगवान् जिनेन्द्र देव द्रव्य एवं भाव गुणों से युक्त

हैं, धर्म मूल दया के तो अवतार ही हैं। जिनके स्मरण से भव्यात्मा इस संसार-सागर के जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। ऐसे सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शक श्री अरिहंत देव को मैं वन्दन करता हूं।

विवेचन : (अष्ट प्रातिहार्य, चौतीस अतिशय) शारीरिक व्यञ्जन आदि द्रव्य+ गुण तथा क्षमादि एवं अनंत ज्ञानादि चतुष्टय भाव गुण होते हैं। धर्माचार्य देवाधिदेव इनसे युक्त हैं तथा इनका स्मरण भवोदधि से पार करने में नौका के सदृश है। अध्यात्म मार्ग के ये सर्व श्रेष्ठ मार्गदर्शक हैं। अतः इन्हें वन्दन करो, यही कवि का आन्तरिक भाव है। तथा यह पुनः वन्दन और उसकी प्रेरणा आगे विशेष गुण वर्णन आदि के लिए ही है।

त्रियोग-गुण वर्णन

मनोयोग :

उत्थानिका – कवि तीर्थङ्कर देवों के पुनीत योगों मन, वचन, काया की प्रवृत्ति की विशेषताओं का वर्णन करता है जिनमें से प्रथम मनोयोग का विश्लेषण करता है :

छन्द : जलहरण (सर्व लघुवर्ण)

परम अनघ गति परम धरम रति,
परम विमल मति परम विशद मग।
परहर भ्रम सभ परस मुकति पथ,
परिचित शम दम परख सकल जग ॥

+ 'दर्व, दरव' (देखें दोहा)

सब जग जिय हित, सत सुख चितवत,*
करम हरण वृत्ति अचल अमर नग ।
अलख अमित नभ, जित मद मनमथ,
जिनवर मन इम रमत अडग मग ।।२२।।

मूलार्थ : श्री देवाधिदेव के मन की गति सर्वथा पाप से रहित होती है उसे (मन को श्रेष्ठ धर्म—अहिंसा, संयम तप के प्रति स्नेह है, उसकी विचारणा शक्ति—बुद्धि अतीव निर्मल है (क्योंकि मनाकृति मनोवर्गणा के शुभ पुद्गलों से निर्मित है। अत: अति विशद है) ज्ञान गम्भीर है। जिनेश्वर देव के मन ने सर्व प्रकार के भ्रम, संदेहो को छोडकर मुक्ति मार्ग का स्पर्श किया है अर्थात् मोक्ष के मार्ग में हो संलग्न है तथा यह शम दम आदि कल्याण के मार्ग से भलीभांती परिचित है और सम्पूर्ण प्राणी जात् की गति विधि को जानता है पहचानता है।

(तीर्थङ्कर देव के) मन में समस्त प्राणियों के लिए हित तथा उनके शाश्वत (अमर) सुख के लिए चिन्ता है। इनकी मानसिक वृत्ति कर्म—पाप पुण्य, को नष्ट करने वाली है तथा स्वयं मन पर्वत के समान अचल, दृढ एवं अमर है एवं अत्यन्त लम्बे-चौडे तथा अदृष्टिगोचर—न दिखाई देने वाले आकाश के तुल्य उन्मत्त काम देव को जीतकर जिनेश्वर देव का मन ध्रुव मार्ग में निर्बाध गति से विचरण करता है।

विवेचन : (समनस्क प्राणियों के लिए मन ही कर्म का मुख्य

---

* 'चिन्तवत' इत्यपि पाठः, किन्तु अनुस्वार होने से छन्द भंग होता है क्यों कि ३ मात्राएं हो जाती हैं। साथ ही छन्द भी सर्वलघुवर्णी है।

साधन है, यही उनके उत्थान-पतन का मूल कारण है क्यों कि यह विचार का उत्पत्ति क्षेत्र है, जैसा विचार होगा वैसा ही उच्चार और आचार होगा। अतः मनः कर्म का प्रथम अधिकरण है। "मनः एव मनुष्याणां कारण कर्म बन्ध मोक्षयोः" हां, देवाधिदेव का मनोयोग सर्वथा आश्रव से रहित होता है। योग निरोधावस्था न होने तक आत्म-परिणाति के अतिशय विशुद्ध होने से मनोयोग अपना स्वतंत्र कार्य न कर आत्मानुसार ही (गति) करता है। अतः आश्रव-पुण्य-पाप परिणति में मन उलझता ही नहीं। यही प्रशस्त मनोयोग का स्वरूप है।

आगम में मनोयोग-वचनयोग का सामूहिक रूप मिलता है कि तीर्थङ्करदेव—'अनाश्रवी, अममत्वी, अकिञ्चन, छिन्नस्रोत, निर्लिप्त, प्रेम, राग द्वेष, मोह आदि से रहित, निर्ग्रन्थ प्रावचन देशक, प्रतिष्ठापक थे।'

छन्द लक्षण

यह सम वर्णिक वृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएं आठ-आठ अक्षरों तथा अन्त में यति होती है। इस कवित्त छन्द में सर्व लघु वर्ण ही हैं तथा कमलबन्ध है, अतएव प्रत्येक चरण एक ही वर्ण से आरम्भ होता है।

वचन योग :

उत्थानिका—मन योग के वाद कवि अब तीर्थङ्कर के वचन योग के सम्बन्ध में निरूपण करता है कि वह कितना प्रशस्त होता है:—

---

* अणासवे-अममे-अकिंचणे-छिन्न-सोए-निरुवलेवे, ववगय पेम-राग-दोस-मोह, निग्गंथस्स पवयणस्स देसए, सत्थ नायगे, पइट्ठावए........।

—औप० १६

छन्द : जलहरण (सर्वलघुवर्ण)

सरल मधुर शुभ, सरस अमृत सम,
सत मृदु सम रस सकल भविक हित।
सरव वरण मय, सरस सुविधि नय,
सत गति मगवर समझत सत चित ॥
प्रकट करत सभ, सम श्रुति अनुक्रम,
धरम सुविधि दस तिस हित मित।
गरज सुघन मय, पिक धुनि रस मय,
सभ सुर गुणधर जिनवर वच इत ॥२३॥

मूलार्थ—जिनेन्द्र के वचन जानने में सरल, सुनने में मधुर, परिणाम में शुभ कल्याणकारक, आचरण में अमृत के तुल्य होते हैं। ये सत्, कोमल तथा शम रस—शान्त रस युक्त होने के कारण सभी भव्यों के लिए हितकारी हैं।

ये वचन सर्व लघु गुरू आदि वर्णों से युक्त (वाक्य विन्यास) सर्व नयों अर्थात् निश्चय व्यवहार आदि सात नयों-वस्तु ज्ञान प्रणाली से युक्त हैं। तथा जो सद्गति-मोक्ष मार्ग जैसे श्रेष्ठ मार्ग के प्रतिपादक हैं जिसे सुनकर चित्त ज्ञान की प्राप्ति करता है, समझता है।

देवाधिदेव अपने इस वचन योग द्वारा क्रमशः आगम ज्ञान का, क्षमादि दश प्रकार के धर्मों का विधिपूर्वक कथन करते हैं ये धर्म प्राणियों के लिए हित एवं मित्र रूप हैं। इस प्रकार का जिनेन्द्रदेव का वचन योग मेघ के गर्जारव के समान गम्भीर, कोकिल ध्वनि की तरह रसीला और सर्व स्वर तथा वाणी गुणों से युक्त होता है।

विवेचन—कवि के कथन का तात्पर्य है कि श्री देवाधिदेव का वचन सरल, सरस, सुबोध तथा संक्षिप्त पर विशद अर्थ से युक्त होता है। आज के वक्ताओं की भांति केवल शब्द जाल एवं वाग्जाल से भरा ही नहीं होता है। प्रायः देखा जाता है कि कहीं भाषा की सरलता है तो ज्ञान का अभाव है और कहीं ज्ञान तत्व से युक्त विश्लेषण है तो भाषा इतनी क्लिष्ट होती है कि तत्त्व से भी वंचित रहना पड़ता है और वह भी अपने विचारों का वाणी द्वारा प्रदर्शन है, किन्तु तीर्थङ्कर देव सत् (रीयलिटी) का ही प्रतिपादन करते हैं जो उनके ज्ञान का विषय है।

सुस्वर आदि नाम कर्मोदय से वाणी में एक अनूठी विचित्रता पाई जाती है। ऐसा नहीं कि वह केवल सीधी सादी ग्रामीण भाषा की तरह है, नहीं, उसमें वाग्वैचित्र्य, उक्ति वैचित्र्य, उदाहरण, दृष्टांत, अलंकार, छन्द आदि सभी विशेषताएं पाई जाती हैं और वहां मनः शुद्धि है वहां तो वाणी में किसी प्रकार का दोष रहता ही नहीं, वाणी मनोभावों का प्रकटीकरण ही तो है। 'जैसा विचार वैसा उच्चार' यह उक्ति उचित ही है।

संगति—सारद नवत्थणिय महुर गंभीर कोचनिग्घोप दुंदहि सरे ···
—औप० १३ सम०

काययोग :

उत्थानिका—वचन योग के पश्चात् कवि काया का अतिशय सुन्दर वर्णन करता है—

छन्द : जलहरण

मनुज सुगति मय, मल न लागत जिह,
मदन निकर जय मणि द्युति जिनवर,

मनुज असुर सुर, मन वच तन थिर,
मगन निरिखि जिह मनन अतुल कर,
चिन्ह रुचिर मय, वरण सुछवि जिह,
दरशन अघ क्षय अरुज सुगुण घर,
रुधिर धवल धर, जिनवर वपुवर,
अमित सबल जिह नमत भगति घर ॥२४॥

भावार्थ—दिव्य पुरुषों का शुभ्र परमाणुओं से बना हुआ शरीर अत्युत्तम है, जिसकी गति (चाल) हाथी, बैल की भांति शुभ है, जिसके (शुभ देह को) कभी किसी प्रकार का मल (मैल) नहीं लगता, जो सहस्रों कामदेवों के शरीर समूह से अधिक रूप-वान है तथा जिसकी कान्ति मणि की दमक से भी अधिक समुज्ज्वल है। असीम रूप लावण्य एवं सौंदर्य युक्त ऐसी देह को मनुष्य, राक्षस देव अपने स्थिर मन वाणी एवं निस्पंद शरीर से अर्थात् अति विस्मित होकर शरीर शोभा को अतुल्य मानकर उसे देखने में ही मग्न हैं।

जिस शरीर के चिन्ह, अङ्ग-उपाङ्ग एवं लक्षण आदि मन भावन हैं तथा वर्ण भी मोहक है ऐसे निरोग तथा गुणाकर शरीर का दर्शन पापों का नाशक है और जो धवल (सफेद) वर्ण वाले रक्त से युक्त है, असीम बल है, ऐसे जिनेश्वर देव के परमोत्कृष्ट शरीर के आगे देव आदि भक्ति पूर्वक नत होते हैं अर्थात् झुकते हैं।

विवेचन—देवाधिदेव के शरीर-सौंदर्य आदि का वर्णन करते हुए आचार्य मानतुङ्ग कहते हैं—प्रभो! वे शुभ्र, शान्त तथा सौम्य

परमाणु जिनसे आपके शरीर का निर्माण हुआ है जगती तल पर उतने ही थे। यही कारण है कि आपके सदृश अन्य कोई रूपवान् एवं ललाम नहीं है।+ तो यहां कवि ने अपनी भाषा में जिनेन्द्रदेव के शरीर के रूप का ही नहीं, अपितु अन्य कई विशेषताओं का भी वर्णन किया है जैसे शरीर की चाल, द्युति, किसी मलिन पदार्थ का स्पर्श न होना, धवल रक्त का होना आदि।

शरीर अत्यन्त शुभ पुद्गलों से निर्मित होने से उस पर किसी प्रकार के अशुभ पुद्गल का प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि स्वधर्मी पदार्थ का ही संयोग होता है विधर्मी पदार्थ एक दूसरे का नाशक होता है। अतः विष, मल आदि का शरीर पर प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार लावण्य सौन्दर्य एवं रूप के सम्बन्ध में जानना चाहिए तथा जहां कुछ अपने से विशेषता पाई जाती है मानव हृदय वहीं विस्मित व नत होता है और आल्हादित होकर उसका स्तुति करता है। अतः देवादि तीर्थङ्करदेव की शारीरिक विशेषता के आगे नत होते हैं।

आगम में भी तीर्थङ्कर महावीर के निम्न शारीरिक विशेषणों उल्लेख है—

प्रधान हाथी की भांति वल-प्राक्रम और गति, निर्मल, सुजात, निरुपहत–रोगादि उपद्रव रहित देहधारी, विशिष्टरूप, निर्धूम-अग्नि, चमकती हुई बिजली तथा मध्यान्ह के रवि–किरण के सदृश तेजः दीप्ति वाले, अतिश्वेत निरुपम मांस वाले, जल्ल—सूखे हुए पसीने का मल, मल्ल–रज का कठोर मैल, अशुभ तिल मशा आदि

+ भक्तामर स्तोत्र १२

कलंक स्वेद, रज आदि दोस रहित शरीर वाले, कांति से चमत्कृत अंग-उपांग वाले····।×

संगति—चौतीस अतिशयों का उल्लेख करते हुए समवायांग सूत्र में "निरामया, निरुवलेवा गायलट्ठी। गोक्खीर पंडुरे मंस सोणिए" कहा है।

समुच्चय योग वर्णन

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में कवि भगवान् की योग प्रवृत्ति का सामूहिक वर्णन करता है—

छन्द : जलहरण

करण करण बस, करम सबल जित,
कलि मल रज हर करण परम सुख,
करण चरण विधि, कठिन धरन नित,
कवन अवर सम कहत निपुन मुख।
अमित अतुल जस, वरनन सुरपति,
परम भगति उस रचन धरम रुख,
सकल सकति निधि, परम सुगुण युत,
मन वच तन इम हरण जगत दुख ॥२५॥

मूलार्थ—भगवान् अरिहंत देव बलवान् ज्ञानावरण आदि

×निम्मलसुजाय-निरुवहत देहधारी, विसिट्ठरूवे हुयवह-निद्धूम-जलिय-
ाडि-तडिय-तरुण रवि किरण सरिस तेए, अइसेयनिरुवमपले-जल्ल-मल्ल
कलंक-सेय-रजदोप वज्जिय सरीर निरुवलेवे छाया-उज्जोइयंगपच्चंगे····।
रवारण तुल्ल विक्कम विलसियगइ···· ।—औप० १६ सू०।

अष्ट कर्मों को जीतने के लिए उसके साधनों योग (मन वचन काया) करण कृत-कारित अनुमति को वश में करते है। कर्म रूप कालुष्य-मल एवं धूलि को दूर करने तथा परम सुख मोक्ष को प्राप्त करने के लिए चरण विधि एवं करण विधि (एक प्रकार की क्रिया विशेष) जो अत्यन्त दुष्कर है दुष्करणीय है नित्य धारण करते हैं। इसीलिए "इनसे श्रेष्ठ अन्य कौन हो सकता है" इस प्रकार विद्वज्जन कहते हैं।

धर्म रूप महावृक्ष की रचना करने वाले महायशस्वी अरिहन्त देव के असाम एवं अतुल यश का गान देवराज इन्द्र भी हृदय में उत्कट भक्ति भाव धारण करके करते हैं। तथा जो सर्व शक्तियों के कोष हैं, सर्व श्रेष्ठ ज्ञान, संयम व चारित्र गुणों से युक्त हैं ऐसे मन वचन और काय योग जगत के दुखों का इस प्रकार नाश करने वाले हैं।

विवेचन—संसार में वस्तु का मूल्य तो है ही किन्तु उस समय वह वस्तु अत्यधिक मूल्यवान् हो जाती है जब कि उसका स्वामी उसका प्रयोग शुभ कार्य में करता है। वस्तु का दुरुपयोग उसके मूल्य को घटाता है और सदुपयोग वृद्धि। मन आदि भी एक भौतिक पदार्थ है जिसे प्राणी धारण किये हुए हैं यदि उसका प्रयोग उचित प्रकार से हो रहा है तो ठीक है अन्यथा वही उसके जीवन का घातक है क्योंकि प्रत्येक कार्य के सम्पादन में ये तीनों योग अपेक्षित हैं।

प्रशस्त मनोयोग आदि से युक्त अध्यात्म पुरुषों का जीवन आदर्श एवं अनुकरणीय होता है क्योंकि उनकी मानसिक वृत्ति, वाणी तथा क्रिया सर्वथा निरवद्य होती है अतः सामान्य प्राणियों के लिए आराध्य होते हैं इसलिए उनकी अराधना कर मुमुक्षु अपनी जीवन वृत्ति को शुद्ध एवं परिमार्जित

करते हुए परम आनन्द को प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि कवि ने देवाधिदेव के योगों का कथन किया है कि वे कितने प्रशस्त हैं और किस प्रकार जगत के दुखों के नाशक हैं।

टिप्पणी : करण विधि=प्रयोजन उपस्थित होने पर जिसका आचरण किया जाता है वे करण कहलाते हैं। ये सत्तर हैं चार पिण्ड विशुद्धि, पांच समिति, बारह भावना, बारह प्रतिमा, पंचन्द्रिय निरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति, द्रव्यादि भेद से चार प्रकार का अभिग्रह। II इसे करण सप्तति (सत्तरि) कहते हैं।

चरण विधिसदा काल जिसका आचरण किया जाय वे चरण विधि है। ये भी सत्तर की संख्या वाले हैं। × पांच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सतरह संयम, दस वैयावृत्य, नव ब्रह्मचर्य की गुप्ति, रत्न त्रय-ज्ञान दर्शन चारित्र, बारह तप, क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह। यह चरण सत्तरी भी कहलाते है।
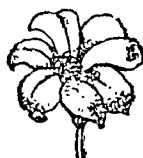
II पिण्ड विसोहि समिई भावण पडिमा य इंदिय निरोहे।
पडिलेहण गुत्तिओ अभिग्गहा चेव करणं तु ॥

× वय समण धम्मे संजम वेयावच्च च बंभ गुत्तिओ,
नाणाइ तियं तव कोहणिग्गहा इइ चरण भेयं।

समवसरण महिमा

उत्थानिका:—ग्रन्थकार अब तीर्थंकर देव जहां आकर विराजमान होते हैं वह स्थान कैसा होता है वहां का वातावरण किस प्रकार का होता आदि वर्णन करता है—

छन्द: सवया (२३ वर्ण)

जोजन एक मही +दिव के सम, मोद महा सुर योग जहां है,
प्रादु भये शुभ नीच गये छुपि, शब्द ति०पंच अनूप महा है।
वैर विकार नहीं तिस मण्डल, शन्ति हृदे सम भव्व तहां है
धर्म समोसरणे प्रभु राजत, पाप पाखंड की बात कहां है। २६

मूलार्थ—(वह समवसरण भूमि जहां तीर्थंकर देव आकर विराजमान होते हैं, एक योजन परिमाण अर्थात् चार कोस विस्तार वाली समवसरण भूमि सक्षात् देवलोक के सदृश प्रसन्नता से युक्त तथा सर्व प्रकार के देवसमूह से सहित होती है। वहां सब प्रकार के अनिष्ट तत्वों-अशुभ परमाणुओं का सर्वथा अभाव तथा शुभ तत्त्रों का ही प्रादुर्भाव होता है। (अर्थात् जिनेन्द्र देव के पदार्पण से समूचे अशुभ नष्ट हो जाते हैं और शुभ स्वयमेव हो उत्पन्न हो जाते हैं) तथा सुन्दर शब्द अय तथा अनोखे वर्ण गन्ध

+ मत्तगयन्द छन्द +'महा, इत्यपि पाठः दृश्यते '०त्रि' पुस्तकानन्तरे

रस, स्पर्श विद्यमान होते हैं। उस मण्डल-परिमित भूमि में किसी प्रकार के वैर विकार का अस्तितव नहीं होता, प्रत्येक के हृदय में शांन्ति का वास होता है तथा वहां सभी भव्य जीव ही होते हैं।

विवेचन-ऐसे धर्म समवसरण में देवाधिदेव विराजमान हुए शोभित होते हैं। अतः वहां पाप-असद्=मनोवृत्ति, पाखंड-मिथ्या-चरण नहीं रहता अर्थात् सर्वत्र धर्म का ही उद्योत रहता है।

उस धार्मिक मण्डप की विशेषताओं का उल्लेख करता हुआ कवि कहता है कि जहां अतिशय शुभ्र प्रकृति, गुण एवं यश वाले महापुरुष विद्यमान होते हैं वहां किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं होता। उनकी-शांति छाया को पाकर हृदय में रहे पारस्परिक द्वेष आदि अग्नि तो स्वयमेव ही शान्त हो जाती है। यह भूमि समवसरण मण्डल के नाम से पुकारी जाती है अर्थात् वह स्थान जहां तीर्थङ्कर आकर विराजित होते हैं तथा धर्म देशना देते हैं। अथवा जहां सम्मिलित रूप से एक ही उद्देश्य से देवता आदि एकत्रित हों उसे समवसरण कहते हैं। अथवा जहां धर्म कथा को सुनने के लिए देवता मनुष्य तिर्यञ्च, आते हों वह समवसरण है। "सम्यक् एकीभावेनावसरणम् एकत्र गमनं संम्मिलनं देव मनुष्या-दीनां समवरणम् अथवा समवसरन्ति अवतरन्ति धर्म श्रवणार्थ यत्र तत्समवसरणम्।"—अनु० टीका।

तो उस स्थान को अति पुण्योदय के कारण देव अतीव रम्य एवं शोभाशाली बना देते हैं। इसका परिमाण चार कोस का होता है।

संगति : जोयण पमाण परिमंडल अमुणन्नाणं सद्द-फरिस-रूप-रस गंधाणं अवकारिसो, मुणन्नाणं सद्द पाउब्भावा भवइ-अ प, सम० सम ३४

छन्द परिचय—यह मत्तगयंद छन्द वर्णिक छन्द है। जो सवैया

छन्द का एक भेद है। इसके प्रत्येक पाद में सात भगण(SII) और दो गुरु होते हैं।

उत्थानिका : उक्त मण्डप में तीर्थङ्कर देव एक भव्य सिंहासन पर विराजित होते हैं आदि दृश्य का वर्णन करता हुआ अष्ट महाप्रातिहार्यों का उल्ले करता है—

छन्द : सवैया (२३ वर्ण)

हेम सिंहासन माणिक मंडित ता पर तीन सुछत्र धरैया,
चामर इन्द्र करे त्रिव मूरत, वृक्ष अशोक सुछाय करैया।
सूर्य प्रकाश दिपे द्युति मंडल, ऊंच महेन्द्र धुजा फरकैया,
गर्जति चक्र बजे सुर दुन्दुभि, फूल वर्से जिनराज दिपैया।

मूलार्थ—(उस समवसरण भूमि में) स्वर्ण निर्मित सिंहासन जो कि माणिक्य आदि विविध प्रकार के रत्नों से जड़ित है तथा उसके ऊर्ध्व भाग पर तीन प्रकार के-स्वर्ण, रजत, रत्न) भव्य छत्र शोभित हो रहे हैं और दायीं-बायीं ओर देवराज इन्द्र चंवर डुला रहे हैं।

उक्त सिंहासन एक हरितवर्ण एवं शीतल छाया प्रदान करने वाले अशोक वृक्ष के नीचे स्थित है। इस मण्डप में जिनेश्वर देव के मस्तक के पृष्ठ भाग की ओर रहा हुआ भामण्डल (प्रभामण्डल, ज्योति-चक्र) सूर्य की द्युति से भी अधिक दीप्त हो रहा है। तथा गगनांगण में चंचल महेन्द्र नामक महाध्वज लहरा रहा है। धर्म चक्र ऊर्ध्व दिशा भाग में गर्जन—(गण गण शब्द) करता है, आकाश में देव दुन्दुभि—वाद्य विशेष, बज रही है और देव गण पांच वर्णों वाले अचित्त पुष्पों की वर्षा करते हैं। इस प्रकार

देवाधिदेव भगवान् इस अष्ट महाप्रातिहार्यों द्वारा दीप्त हो रहे हैं।

विवेचन—अतीव पुण्योदय के कारण अथवा जीवन का सर्वथा कर्म मल से रहित हो जाने से उसमें एक प्रकार का अद्भुत आकर्षण उत्पन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक वस्तु स्वयमेव आकर्षित हो जाती है। अतः देवाधिदेव के इस पुनीत एवं दिव्य जीवन के आगे अमरपुर के वासी अमर भी श्रद्धावनत होते हैं और उनकी भावना युक्त भक्ति करने के लिए तत्पर रहते हैं। उक्त अष्ट महाप्रातिहार्य उनकी देन हैं। ये प्रातिहार्य प्रतिहारी अर्थात् सेवक के रूप में रक्षा करने वाले और महिमा बढ़ाने वाले देवी पदार्थ। अथवा इन्द्र की आज्ञा का पालन करने वाले देव प्रतिहारी कहलाते हैं तथा उन देवों द्वारा किए गये भक्ति रूप कृत्य विशेष प्रातिहार्य कहलाते।

ये अत्यन्त सुन्दर होते हैं जिन्हें देखते ही मन अल्हादित हो उठता है। ये आठ हैं—

अशोक वृक्षः सुर पुष्प वृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामर मासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभि शतं पत्रं, सत् प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्।

समवायांग सूत्र में चौवीस अतिशयों में देवों द्वारा उक्त समवसरण मंडल में पांच वर्णों के अचित्त पुष्पों का जानु-प्रमाण ढेर करने का वर्णन है—

"दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फोवयारे किज्जइ" अतः उसी का कवि ने "फूल वमे" किया है—अन्यत्र श्लोक में 'सुरपुष्पवृष्टिः' का उल्लेख है।

संगतिः [समवायांग सूत्र ३४ वां स. सूत्र ६ ७ २० ६ १२ १० ८ १८]

कवि ने यहां चामर डुलाने में दो इन्द्रों को निमित्त माना है किन्तु आगम एवं बाहय ग्रन्थों में यक्ष देवों का उल्लेख है 'दो जक्ख चामर धरा (समव० कल्प १३ गा०) तथा "उभओ पासिवणं अरहंताणं दुवे जक्खा कडग तुडिय थंभिय भुयाचामरु वखेवणंकरेंति। (समवायांग)

संभव है विशेष प्रसंग में इन्द्र और प्रतिदिन यक्ष सेवा करते हों।

साथ ही समवायांग में चामर डुलाने का पाठ नहीं भी मिलता है वहाँ केवल "आगास गए चामरं" है।

ध्वज के सम्बन्ध में भी नाम और संख्या में भिन्न२ मान्यताएं हैं। कवि ने महेन्द्र ध्वज और संख्या एक मानी है किन्तु ग्रन्थों में समवसरण के चार दिशा द्वारों के चार ध्वज – धर्म, मान गज और सिंह + इन नामों वाले माने हैं। धर्मध्वजा नाम ही विशेष प्रसिद्ध मालूम पड़ता है। औपपातिक सूत्र में धम्म ज्झएणं पुरओ "तया धम्मज्झओ फुडइ केउसंकिओ' कहा है।

उत्थानिका—अब कवि तीर्थंकर देव की वाणी की महत्ता का प्रासंगिक वर्णन करता है कि वह कैसी दिव्य है—

छन्द : सवैया

ऊंच गम्भीर महासुर पंचम, मेघसि दुन्दुभि सों[१] मन मोहे,
योजन एक लगे सुनते सभु, भव्य जगे मति दोष न पोहे।
या सुन मोद लहें सुर मानव और तिरयंच भले गुण टोहे
सर्व सुभाषा मई समझें सभु, श्री जिनवाणी[२] अनुपम सोहे २८

मूलार्थ—(उक्त सिंहासन पर विराजित) देवाधिदेव श्री तीर्थङ्कर देव का स्वर उच्च, गम्भीर तथा पंचम होता है जो घन गर्जरव एवं देव वाद्य दुन्दुभि की मधुर ध्वनि की भांति मन को मोहित करने वाला होता है।

वह स्वर इतना ऊंचा होता है कि एक योजन परिमाण

+ चउ ज्झाया धम्य माण गय सीहा। ककुभाइ जुआ सव्वं।

१' जिन मैड, २सी सु, इदं दृश्यते

सम्पूर्ण समवसरण मण्डल में रहने वाले सभी प्राणियों को सुनाई देता है। जिस की गंभीर ध्वनि को सुनकर भव्य जीव जागृत होते हैं तथा उनकी बुद्धि स्थिर मिथ्यात्व आदि दोषों को पोषण करने वाली नहीं रहती अर्थात् निर्मल हो जाती है । वे जीव विवेकशील हो जाते हैं ।, ऐसी मधुर एवं शिक्षाप्रद वाणी को सुनकर देव, मनुष्य तथा पशु-पक्षी तक तिर्यंच योनिक जीव आनन्द प्राप्त करते हैं और प्रशस्त गुणों की ओर बढ़ते है। इस सर्वगुण सम्पन्न वाणी को सर्वजाति के प्राणी अपनी अपनी भाषा में ही समझ लेते हैं। इस प्रकार श्री मुख से निःसृत वाणी अनुपम शोभित होती हैं।

विवेचन—जिनेश्वर देव की वाणीगत विशेषताओं का व्याख्यान करके कवि ने स्पष्ट किया है कि सामान्य प्राणियों की अपेक्षा उनका स्वर विशिष्ट होता है।

दिव्य ध्वनिर्भवति ते विशदार्थ सर्व
भाषा स्वभाव परिणाम गुणैः प्रयोज्या । +

जिसके श्रवण मात्रा से ही भव्य जीव अपने को सर्वात्मना समर्पण उनके चरणों में कर देता है। फिर उस में रहे ज्ञान का तो पारावार ही क्या है वाणी के ३५ गुणों में से यह एक प्रधान गुण है कि सर्व प्राणी अपनो-अपनो भाषा में उसे समझ लेते हैं।

आगम में उल्लेख है कि प्रवचन करते हुए भगवान की वाणी हृदयगामिनी, मनोज्ञ तथा योजन प्रमाण विस्तीर्ण होती है तथा शीतकाल के मेघ की ध्वनि की तरह मधुर, गम्भीर क्रौच पक्षी के घोष के समान, देव दुन्दुभि के स्वर के तुल्य वचन हृदय में घर करने वाले होते हैं।

+ भक्तामर स्तोत्र—३५

संगति—सारद नवत्थणिय महुर गम्भीर कोंचनिग्घोस दुंदहिसरे उरे वीत्थडाए.........पव्वाहरओ वियणं हियय गमणीओ जोयण नीहारीसरो ००

पेंतीस वाग् गुणों के वर्णन में 'उदात्तत्वम्, गम्भीरत्वम्' आदि विशेषण मिलते हैं।

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में ग्रन्थकार भगवान् के विशेष गुणों का वर्णन करता है जिसे देखकर दर्शक गण मुग्ध हो जाते हैं :—

छन्द : सवैया

सर्व दयालु सुशांत सदा थिर, सर्व मई सरवज्ञ सुधामी,
सर्व को देख रहे सु व्यापक, +सर्व ति भिन्न चिदानंद×स्वामी
लोक अलोक विलोक लियो, श्री जिनराज महापद कामी
आतम के गुण साथ दिपे भव, सेवक वंदत है रुचि पामी २६

मूलार्थ : (उक्त वाणी गुणों से सम्पन्न) भगवान् जिनेन्द्र देव सर्व (त्रस-स्थावर) प्राणियों पर दया करने वाले, क्रोधादि के अभाव के कारण हृदय से परम शान्ति स्वरूप, सदा समान स्थिति अर्थात् समभाव में रहने वाले हैं तथा सर्वमति—केवल ज्ञानी हैं, सर्वज्ञ हैं एवं अर्हद् भाव में अवस्थित हैं।

ये सर्वदर्शी अपने अनन्तदर्शन के बल पर सर्व पदार्थों को देखते हैं। सर्वज्ञता एवं सर्वदर्शिता के कारण सर्वव्यापक

---

००० औप० १३, समवायांग सम० ३४—३१ . २ वां सूत्र
+'सर्वते'—पाठान्तरे × 'नामी,

हैं, तथापि उनसे भिन्न हैं,चिदानन्द संज्ञक हैं अर्थात् अनन्त ज्ञान एवं अनन्त अव्याबाध सुख से परिपूर्ण हैं।

इन्होंने (सर्वज्ञ देव ने) लोक अलोक को हस्तामलकवत् जान लिया है, देख लिया है ऐसे सर्वज्ञ महापद (मोक्ष) के योग्य हैं। +

इस प्रकार जिनके जीवन में आत्म-गुण साक्षात् देदीप्यमान हो रहे है ऐसे जिनराज को सेवकजन (उपासक) स्नेहसिक्त होकर वन्दन करते हैं।

विवेचन : कवि ने प्रस्तुत पद्य में उन शिष्ट गुणों का भी कथन किया है जिनके विषय में भिन्न भिन्न मत हैं। अन्य दर्शन भी भगवान् को सर्वव्यापक मानते हैं। उनका कथन है कि वह परब्रह्म तत्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक है और जितने भी आत्म-चेतन हैं वे सब इसी के ही अंश हैं। अतः वह घट घट व्यापक है।

जैन दर्शन का इस विषय में तर्क है कि यदि वह घट-घट व्यापक है और उसी के ये सब अंश हैं तो इनमें परस्पर अन्तर क्यों ? क्योंकि वह विशुद्ध है, निराकार है, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है और यह मलिन साकार, अल्पज्ञ, अज्ञानी, तथा स्वल्पदर्शी है। यदि ये प्रकृति एवं अविद्या के कारण हैं तो विशुद्धात्मा इन दोषों से सर्वथा मुक्त ही है फिर यह मलिनता क्यों ?

तथ्य ऐसा नहीं है कि द्रव्य रूप से परमात्मा इतस्ततः विकीर्ण हुआ है। यदि इस रूप में माना जाय तो अन्य कई दोष उत्पन्न हो जायेंगे अतः परमात्म तत्त्व—द्रव्य दृष्टि से सर्व

+ चूंकि अरिहंत देव का वर्णन है, सिद्ध नहीं है, होना है।

व्यापक नहीं हैं अपितु भावदृष्टि—अनन्त ज्ञान, सर्वज्ञत्व अनन्त-दर्शन, सर्वदर्शित्व गुण के कारण ही सर्वव्यापक है क्योंकि समग्र लोक-अलोक उसकी ज्ञान शक्ति में प्रतिबिम्बित है । कहा भी है—"शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति" और आत्मा ज्ञानमय होने से वह सर्वगत है किन्तु द्रव्य दृष्टि से आत्मा असर्वगत है तथा दिखाई देने वाले तत्व एक नहीं, अनेक तत्व हैं अतः "सर्व को देख रहे सभु व्यापक सर्व ते भिन्न चिदानन्द स्वामी" ही सही सिद्धान्त है ।

'आतम के गुण'—आत्म गुणः—ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, सत्ता और चैतन्य । ये आत्म गुण हैं। ये समस्त चेतन में व्याप्त एवं विद्यमान हैं । बद्ध आत्माओं में और मुक्त में भी इतना अवश्य है कि बद्ध में ये सत्ता रूप तथा मुक्त में विकसित--प्रकट होते हैं । देवाधिदेव में ये प्रकट हैं । इसलिए कवि ने 'आतम के गुण साथ दिपें' कहा है ।

ये देवाधिदेव 'सर्व दयालु' सुशांत और सदा थिर' हैं । यह आत्म-परिणतियां इसलिए हैं कि इनमें राग-द्वेष रूप विभाव का अभाव है, कषायमुक्त हैं क्योंकि राग-द्वेष कर्म के बीज और कर्म, जन्म-मरण का कारण है अतः अस्थिरता, संक्लेश कठोरता आदि का आना जीवन में स्वाभाविक है । इनके अभाव में उपर्युक्त स्थिति ही रहती है। साथ ही जैन दर्शन के अनुसार साकार या निराकार परमात्मा निर्णेता और विधायक नहीं है । यह भी राग-द्वेष के सद्भाव का ही फल है क्योंकि यह (निर्णय और विधान) एक प्रकार की व्यवस्था है और व्यवस्थापक में में परिस्थिति वश राग द्वेष आ ही जाता है । इसलिए कवि ने स्पष्ट किया है देवाधिदेव 'सर्व को देख रहे सभु व्यापक' पर सर्व कर्म-भर्म ते रहिते' हैं । एक संस्कृत कवि ने 'परमात्म स्वरूप' का

कितना सुन्दर विश्लेषण किया है—"यस्य न राग द्वेषौ नापि स्वार्थो ममत्व लेशो वा।"

उत्थानिका : निम्न पद्य में भी कवि भगवान् के गुणों का ही व्याख्यान करता हुआ वंदना करता है :—

छन्द : सवैया (२३ वर्ण)

सर्व गुणोदधि सर्व सुशक्ति, सदा सुखदायक शांत रसी है,
भव्य उद्धारण दोष निवारण, श्री करुणा उर मांहि बसी है।
जा जस चंद कियो जग चांदन, लोक समस्त मो कान्ति धसी है,
श्री जिनराज विराजत हैं, प्रणमों जिनकी भव पीड़ नसी है २०

मूलार्थ : जिनेन्द्र देव सर्व गुण सम्पन्न होने से गुण समुद्र हैं, सर्व प्रकार की अणिमा-गरिमा आदि शक्तियों से युक्त हैं, अतः शक्तयाकर हैं, सदा सुख देने वाले, शान्त रस को धारण करने वाले हैं तथा सर्वज्ञ देव भव्य जीवों के उद्धारक हैं, दोषों (हिंसादि) को दूर करने वाले हैं और उनके हृदय में जीवनोत्कृष्ट गुण करुणा का वास है। जिनके यश रूप चन्द्र ने सम्पूर्ण जगत् में प्रकाश किया है और लोक में इसी की कान्ति व्याप्त है (अर्थात् जगत् में जो प्रकाश का अस्तित्व है वह मानो जिनदेव का उज्ज्वल यश ही व्याप्त हुआ है।

ऐसे जिनेश्वरदेव जो समवसरण मण्डल में स्वर्ण निर्मित-रत्न जटित सिंहासन पर विराजित है तथा जिनकी जन्म-मरण पीड़ा सर्वथा नष्ट हो गई है, मैं उन्हें प्रणाम करता हूं।

सर्वज्ञदेव अप्रतिबद्ध बलशाली, अतिशय बलिष्ठ, अनुपम-प्रशस्त शक्ति-सम्पन्न, अपरिमित बल-वीर्य-तेज-महात्म्य तथा कान्ति युक्त होते हैं।

—औप० समव० अधिकार

टिप्पणी : बल से अभिप्राय शारीरिक शक्ति है, वीर्य आत्म शक्ति, महात्म्य से प्रभाव और शरीर सुन्दरता से कान्ति अर्थ लिया गया है।

उत्थानिका : अब सर्वज्ञ देव के चरणों मे बैठे अन्य दिव्यात्माओं का परिचय देता है जो उनके सुधारस युक्त उपदेशों का मानकर स्वयं अमृतमय बन चले हैं :-

छन्द : सवैया (२३)

श्रीगणधर अचाराज सुन्दर, रूप मनोहर तेज दिपैया,
श्रीउवज्झाय महागुण आगर, पंडित मारग मोक्ष दिखैया।
साधु महातप दो, विधि को गहि, कर्म महारिपु चूर करैया,
श्रीजिनराज विराजत है युत, सेवक मोक्ष को काज सधैया ३१

मूलार्थ—समवसरण मण्डल में विराजित देवाधिदेव के सिंहासन के दायीं ओर पट्टधर शिष्य, उनकी वाणी का गुम्फन करने वाले श्री गणधर तथा साधु समुदाय के शिरोमणि श्री आचार्य विराजित हैं। जिनका रूप मनोहरी है एवं तप तथा शील के तेज से मण्डल को दीप्त कर रहे हैं। इनके समीप ही आगमवेत्ता-तर्क विज्ञ श्री उपाध्याय जो अनेक महागुणों के भण्डार है, पण्डित हैं तथा जो ज्ञान के द्वारा मार्ग को दिखाते हैं विराजमान हैं और पास ही दो प्रकार के बाह्य-आभ्यन्तर तप को

ग्रहण कर कर्म रूप शत्रुओं का दलन करने वाले साधु--मुनि बैठे हुए हैं।

इस प्रकार देवाधिदेव महापुरुषों के साथ विराजित हैं जो मुमुक्षु उपासक के कार्य को सिद्ध करने वाले हैं अर्थात् आत्म-सिद्धि में सहयोगी हैं।

विवेचनः-देवाधिदेव के पास रहे साधु वृन्द (सामान्य-विशिष्ट) का सर्वप्रथम कवि उल्लेख करता है कि उनके समीप गौतमादि गणधर परिवार, शास्ताआचार्य, अध्ययन-अध्यापन के उत्तरदायी उपाध्याय और तपोधन साधु-संत होते हैं। आगम में देवाधिदेव के चरणों में गणधर के उपस्थित रहने का तो प्रमाण मिलता है किन्तु आचार्य, उपाध्याय का उल्लेख नहीं आया। स्वयं तीर्थङ्कर देव के लिए 'धम्मायरिए' 'ममधम्मायरिया' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तथापि इस विशाल साधु-साध्वी संघ की व्यवस्था के लिए समुद्देशाचार्य, गणाचार्य आदि रहे होंगे, अतः उक्त आधार पर कवि ने आचार्य के समवसरण में रहने का प्रसंग जोड़ा हो, सभी विशिष्ट एवं सामान्य साधु समवसरण में विद्यमान ही रहें ऐसा नहीं है।

वृद्ध कथन है कि वे गणधर ही जब गण का नेतृत्व करते थे तब आचार्य, आगम वाचना, तत्त्व चर्चा आदि में उपाध्याय कहलाते थे।

आगम में सामान्य साधु वृन्द में अनशन आदि बाह्य, विनय आदि आन्तरिक तपश्चरण वाले तपोप्रधान तथा विशिष्ट कोटि में ज्ञानी पुरुष केवली, मनःपर्यवी, अवधिज्ञानी आदि का, जिसका वर्णन आगे आएगा, उल्लेख मिलता है।

संगति—तेसीणं भगवंताणं एतेणं विहारेणं विहरमाणाणं इमेया रूवे सादिभंतर बाहिरए तवोवहाणे होत्था तंजहा—औप० समवसरण-३ २

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में समवसरण में रहे उक्त विशिष्ट पुरुषों के विशिष्ट ज्ञान आदि गुणों का कथन है:—

छन्द : सवैया (२३ वर्ण)

+केवल औधि धरी मनपर्यव, ज्ञान धरी परमोधि धरैया,
एवं श्रुती मुनि पूर्व धारक, अंग उपांग प्रकाश करैया।
एक पदे अनुसार लहे, सकलागम-वाद जई हरषैया,
लब्धि अहारक वैक्रिय चारण श्रीजिनराज के साथ सुहैया ३२

मूलार्थ—तीर्थङ्कर देव के समीप रहे पूर्वोक्त ऋषि-महर्षियों में कई एक केवली-केवलज्ञान से युक्त, कई अवधिज्ञान, कई मनः-पर्याय ज्ञान के धारक हैं तो कितने हो परम अवधि ज्ञान के धर्त्ता हैं, तथा कोई पूर्ण मति-श्रुत ज्ञान के धारक (वाले) चौदह पूर्व + को विद्या के ज्ञाता एवं कई आचारांग आदि अंग ? प्रज्ञापनादि उपांग शस्त्रों के प्रकाशक हैं तो कई इन्द्रभूति गौतम को भाँति ऐसे विचक्षण बुद्धि के धनि हैं जो मुख से निकले हुए एक पद से ही सकल आगामों का ज्ञान प्राप्त करके वादी को वाद में पराजित कर हर्षित होते हैं और भी मुनिराज ऐसे हैं जो

+ 'केवली'—केवलादिज्ञान का परिचय १३वें पद्य में आ चुका है।

? आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, (भगवति) विवाह प्रज्ञप्ति ज्ञाताधर्मकथांग, उपाशक दशांग, अन्तकृतदशांग, अनुत्तरोपपातिक दशांग, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र, दृष्टिवाद।

उपांग :—औपपातिक, रायप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीप, प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्प चूलिका, वह्निदशा।

आहारक, वैक्रिय, चारण आदि लब्धियों से युक्त हैं अर्थात् लब्धिवान् हैं।

इस प्रकार जिनेश्वर देव के साथ दिव्य गुण एवं शक्तियों से सम्पन्न मुनि वृन्द शोभित हो रहा है।

विवेचनः—आत्मा अनन्त ज्ञान एवं वीर्य-शक्ति युक्त पदार्थ है। किसी मे ये प्रकट हैं तो किसी में अप्रकट हैं। ज्यों ज्यों इनका आवरक कर्म नष्ट होता जाता है त्यों त्यों ये प्रकट एवं विकसित होती जाती हैं क्योकि इनके उद्‌भूत और तिरोहित होने का कारण आत्म परिणाम तथा क्रियाएं ही हैं और उन्हें विशुद्ध रखने के लिए संयम और तपश्चरण की आवश्यकता है अतः देवाधिदेव के चरणों में रहे हुए ये साधक उग्र तप एवं कठोर संयम अनुष्ठान का अहर्निश पालन करते रहे हैं और अभी कर रहे हैं। अतः उनका ज्ञान और शक्तियाँ प्रकट हो रही हैं।

संगतिः—भगवान महावीर आदि देवाधिदेव के समवसरण बेला में साथी परिवार के उल्लेख में भी उक्त ऋद्धि सम्पन्न, ज्ञान सम्पन्न आदि महात्माओं का वर्णन है—तेणं कालेणं समएणं समणस्स भगवओ .... अन्तवासी बहवे णिगंथा भगवतो अप्पेगइया अभिणीबोहियनाणी, सुयनाणी, ओहीनाणी, मणपज्जव नाणी, केवल नाणी ...., अप्पेगइया पयाणुसारि ....परवादि पमद्दणा .... अप्पेगइया विउव्विणिड्ढि पत्ता चारणा विज्जहरा आगासातिवाइणों ....औप० समवसरण अधिकार।

टिप्पणी—पूर्व का अर्थ है तीर्थ का प्रवर्त्तन करते समय तीर्थङ्कर देव जिस अर्थ का गणधरों को सर्वप्रथम उपदेश देते हैं अथवा गणधर सर्वप्रथम जिस अर्थ को सूत्र रूप में गूंथते हैं उन्हें पूर्व कहा जाता है ये चौदह हैं:—

१. उत्पाद पूर्व २. अग्रायणीयं पूर्व ३. वीर्य पूर्व ४ अस्ति-

नास्ति प्रवाद ५. ज्ञान प्रवाद ६. सत्य प्रवाद ८. कर्म प्रवाद ६. पच्चक्खाण प्रवाद १०. विद्यानुप्रवाद, ११ अबंध्य पूर्व १२. प्राणायु १३. क्रियाविशाल पूर्व १४. लोक बिन्दुसार पूर्व इनमें द्रव्य-पर्याय, जीव परिणाम, धर्म आदि का कथन है।

इसके सम्बन्ध में एक वृद्ध कथन है कि इतना बड़ा मषिपात्र जिसमें एक हाथी समा सके मषि से भरा हो और वह लिखते हुए समाप्त हो जाए इतना एक पूर्व का ज्ञान होता है ।

ओधी:-अवधि, अवधिज्ञान, परमौधि, परमअवधि, अवधिज्ञान का उत्कृष्ट रूप अर्थात् अप्रतिपाती अवधिज्ञान या समस्त रूपी पुद्गल की पर्याय को बताने वाला।

अंग:-आचारांग आदि ग्यारह सूत्र जो गणधरों द्वारा गुम्फित होते हैं तथा तीर्थङ्कर देव द्वारा प्रतिपादित होते हैं।

उपांग:-अङ्गशास्त्रों के ही अवशेष भाग उपांग अथवा अङ्गों के विषयों (Subjects) को स्पष्ट करने के लिए श्रुतकेवली या पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचे गये आगम उपांग कहलाते हैं। ये बारह हैं, औपपातिकादि।

आहारक:-एक प्रकार की लब्धि विशेष जिसके द्वारा शंका समाधान, तीर्थङ्कर देव के दर्शन तथा किसी विशेष प्रसंग के अवसर पर स्फटिक रत्न के सदृश उज्ज्वल एक हाथ परिमाण वाला पुतला उत्पन्न कर भेजा जाता है यही आहारक लब्धि है।

वैक्रिय:-'विविध क्रिया विक्रिया' के अनुसार वह शक्ति विशेष जिससे मनुष्य अपने को स्थूल, अणु, विरूप-सुरूप तथा विविध आकार वाला बना सके अथवा देवों की भांति कार्य कर सकने वाली शक्ति ही वैक्रिय है। यह दो प्रकार की है, स्वाभाविक और उपार्जित ।

चारण:-आकाश गामिनी शक्ति, यह दो प्रकार की है जंघा-चारण और विद्या चारण। जंघाओं पर हाथ रख कर जो आकाश में विहार करने से सहायक हो वह जंघाचारण तथा विद्या के बल जो आकाश से विचरण करने की शक्ति को विद्या चारण कहते हैं। जंघाचारण विशिष्ट तप-संयम से उत्पन्न होती हैं और विद्या चारण विद्या सिद्धि से । जंघाचारी एक उत्पात (उड़ान) से रुचकवर द्वीप पर चला जाता है, ऊंचाई में सुमेरु पर इसी प्रकार विद्याचारी भी किन्तु वह दो उड़ान में नंदीश्वर द्वीप तक ही जाता है. पहली में मानुषोत्तर और दूसरी में नंदीश्वर किन्तु आते एक ही उत्पात मे आता है क्योंकि विद्या परिशीलन से अधिक स्पष्ट हो जाती है। जंघाचारी दो उत्पात से अपने स्थान पर आता है क्यों कि लब्धिप्रयोग से आत्म परिणामों में प्रमाद आता है अतः शक्ति में न्यूनता आ जाती है।

पुलाक:-देव की भांति समृद्ध मुनि पुलाक कहलाता है अर्थात् जिस लब्धि द्वारा मुनि संघ, धर्म आदि के लिए चक्रवर्ती का भी विनाश कर डालता है वह पुलाक लब्धि कहलाती है।

उत्थानिका:-प्रस्तुत पद्य में भी लब्धियों का कथन किया जा रहा है—

मूलार्थः-श्री अरिहंत देव के चरणों में रहे मुनिवृन्द में कई एक ऐसे मुनि हैं जो अभिशाप, अनुग्रह–वरदान की सिद्धि में समर्थ हैं अर्थात् वर आदि देने की शक्ति है, तो कई तेजः लेश्या के धारक हैं किन्तु उसे अपने वश में किए हुए हैं, उसका प्रयोग नहीं करते। सदा शीतल लेश्या ही में जो समस्त प्राणी जगत के लिए सुखदायी है रत रहते हैं तथा कई मुनिराजों ने पुलाक जैसी महाबलवति लब्धियों को प्राप्त किया है और ऐसे उग्रतपोधारी ऋषि हैं, तपस्वी हैं कि उनके शरीर का मल भी औषधि तुल्य हो गया हैं, जिसके स्पर्श मात्र से शारीरिक रोग-पीडा नष्ट हो जाती है तथा उसमें रही दुर्गन्ध सुगन्धि के रूप में परिणत हो गई है।

इसी तरह और भी विविध प्रकार की लब्धियों के धारक मुनिराज सर्वज्ञ के साथ समाधि पूर्वक विराजमान हैं।

विवेचनः–कवि ने समवसरण स्थित विशिष्ट मुनियों के उल्लेख में श्राप-अभिशाप-अनुग्रह, शीतल लेश्या, तेजो लेश्या, जल्लौषधि-मलौषधि तथा पुलाक जैसी महाबलवति लब्धियों–शक्तियों का कथन किया है।

ये लब्धियां तपश्चरण के प्रभाव से उत्पन्न हो जाती हैं किन्तु मुनि इच्छा से उत्पन्न नहीं करते हैं। तथा उत्पन्न होने पर भी उसका प्रयोग नहीं करते हैं। क्यों? इसलिए कि प्रमाद, राग-द्वेष उत्पन्न होकर कर्म बन्ध से आत्मा पुनः मलिन हो जाता है, किन्तु कतिपय उल्लेखों से ज्ञात होता है कि धर्म, संघ आदि पर संकट प्रसंग पर इनका प्रयोग हुआ भी है। जैसे विष्णु कुमार मुनि द्वारा नमूचि पर। किन्तु उन्हें साधना पर पुनः आरूढ़ होना पड़ा है। सर्वज्ञ महावीर ने भी गोशालक को तापस द्वारा छोड़ी गई तेजो लेश्या से दग्ध होते शीतल लेश्या से बचाया था। देवा-

धिदेवों को यह लब्धि स्वाभाविक ही होती है और वे पूर्ण और कल्पातीत होते हैं। लोकभाषा में इस अभिशाप व अनुग्रह–वर के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति प्रचलित है "लेणो एक न देणो दोय" अर्थात् एक भगवान् का नाम लेना और न अभिशाप न ही वर-दान ये दो देने चाहिए। वर में मानसिक प्रसन्नता, शाप मे दुःख द्वेष, क्रोधादि भाव उत्पन्न होते हैं। अतएव साधु के लिए ये दोनों निषिद्ध हैं। कवि ने भी "तेजस लेस करि अपने वश" कहा है।

तपस्वी पुरुषों का तपश्चर्या से आत्मा तो निर्मल होता ही है किन्तु मनः और शरीर भी पवित्र हो जाता है और यहां तक कि मलमूत्र जैसे दुर्गन्धिपूर्ण पदार्थ भी दुर्गन्ध रहित हो जाते हैं और औषधिका रूप धारण कर लेते हैं। यह आश्चर्य वाली बात नहीं। प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति से जीवन बिताने वाले व्यक्ति का मल-मूत्रादि कम दुर्गन्ध वाला होता है क्योंकि उसमें भोजनादि की मितता और शुद्धता रहती है तथा मूत्र तो वर्षों मे औषधी के रूप में प्रयोग होता रहा है और आज भी "मूत्र-विज्ञान" जैसी पुस्तकें इसकी साक्षी बनी हैं। फिर यहाँ तो तपस्या का चमत्कार है।

संगतिः–मणेणं मवाणुग्गह समत्था, वयणेणं मवाणुग्गह समत्था, कायणं सवाणुग्गह समत्था। अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता, एवं जलोसहि-विप्पोसहि-सामोसहि।

उत्थानिकाः–अब ग्रन्थकार समवसरण में आये देवेन्द्रों एवं देवों की संख्या का वर्णन करता है:—

छन्द : सवैया (२३ वर्ण)

इन्द्र विमान पती दश जोतिक, दो भुवनेश्वर वीस बखाने,
विंतर के बिवतीस सभी, चतुसाठ सुभव्व महाबल+आने।

+ "जाने"

श्री जिन वंदन पूजन सेवन धर्म कथा सुन हेतु पछाने,
?कोटि ति घाट समोसरणे नहि, ओडकदेव असंख्य सथाने ३४

मूलार्थ :—उक्त समवसरण भूमि में वैमानिक-कल्पवासी देवों के दश अधिपति सौधर्म आदि इन्द्र, ज्योतिष्कों के चन्द्र आदि दो इन्द्र, भवनवासी असुर कुमारादि देवों के बीश तथा वाण-व्यन्तरदेवों के बत्तीश अधिपति हैं। ये चोसठ महाबलधारी अतिशय सुन्दर भव्य आदि गुणों से युक्त देवेन्द्र सर्वज्ञदेव को वदन, पूजन तथा उन की सेवा करने के लिए आते हैं और प्रभु द्वारा उच्चरित वाणी–धर्मकथा को सुनकर हेतु–जन्म-मरण, कर्म बन्ध एवं मुक्ति के कारण को जानते हैं।

इस प्रकार समवसरण में इन्द्र एवं उनके साथ कम से कम एक कोटि तथा अधिक असंख्य देव हो सकते हैं,

विवेचन :—देव जीवन के ज्ञान के लिए जैन शास्त्रों में समस्त देवों को चार भागों में बांटा गया है--भवनवासी, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। " देवा चउ विहा वुत्ता, भोमिज्ज वाणमतर, जो इस वेमाणिया तहा।" शेष सभी इन्हीं की ही उपजातियां है इनके चौसठ अधिपति हैं, जो इन्द्र कहलाते हैं। ये केवल ज्ञान, निर्वाण, जन्म आदि पञ्च कल्याणक वेला में सपरि-वार आते हैं। कवि ने इनकी संख्या का परिणाम बतलाने का प्रयास किया है कि 'कोटि ते घाट नहीं' क्रो; से कम नहीं और अधिक असंख्य आते हैं।

आगम में संख्या का स्पष्ट उल्लेख नहीं है केवल 'अहवे' शब्द है और न ही चौसठ इन्द्रों के एक साथ समवसरण में आने का। इन्द्र आते अवश्य हैं। सप्ततिशत द्वारादि ग्रन्थों में भी

? 'कोट ते'

जन्म के समय ही चौसठ इन्द्रों के आगमन का वर्णन है + आगम में उल्लेख है कि श्रमण भगवान के निकट भवनवासी, बहुत से वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक देव प्रकट होते हैं। जैसे कि- पिशाच, चन्द्र, सूर्य, सौधर्म आदि तथा वे तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा, वंदना, नमस्कार कर सेवाभाव रखते, नमन करते, सामने सविनय करबद्ध हो पर्युपासना करते हैं। बाहर प्रकार की परिषद् में देव देवी की परिषद् भी है :

संगति :—समणस्स भगवओ·········· भवणवासिओ देवा········ वहवे वाणमंतरादेवा ········ जोतिसिया देवा ········ वेमाणिया देवा अन्तियं पाउब्भवित्था। तं जहा–पिसाय········ ····चन्द········ सूर ········ सोहम्म ·······आयाहिणं पयाहिणं करेंति २ त्ता वंदति २ त्ता नमंसंति त्ता········ ········ सुस्सू सामाणा, णमंसमाणा अभिमुहा विणएण पंजलिउडा पज्जुवासंति।

टिप्पणि :—असुर कुमार आदि देव भवनवासी अथवा भवनपति कहलाते हैं क्योंकि ये भवनों में रहते हैं उनके स्वामी है भवन अधोलोक में है अर्थात् एक लाख अस्सीहजार योजन की मोटाई वाली रत्नप्रभा के पृथ्वी पिण्ड में से एक योजन ऊपर नीचे छोड कर एक लाख अठत्तर हजार योजन के मध्य भाग में भवनवासी देवों की सात भवन कोटियाँ हैं तथा एक लाख ७२ हजार भवन है। इन्हें 'कुमार' इसलिए कहा जाता है कि कुमार के सदृश सौम्य तथा कान्तिमान होते हैं। ये दस प्रकार के हैं। असुर, नाग, स्वर्णकुमार आदि।

वाणव्यन्तर-वे देव जो वन-उपवन में रहते हैं तथा जो स्वाभाव

+ भवणिंद वीस वंतर-पहू दुतीसं च चंद सूरदो।
कप्प सरिदा दस इय, हरि चउसट्ठिजिण जम्मे।--सम० ३५ मा०चू०जे०

से अधिक क्रीड़ाशील है इसलिए वनचारी (वाणव्यन्तर) कहलाते हैं। अथवा नाना अन्तरों-छिद्रों वाले स्थान विशेष में तथा गुहा, कन्दरा, बिल आदि में रहने के कारण ये व्यन्तर कहे जाते हैं। ये १६ प्रकार के हैं। भूत-प्रेत-यक्ष-राक्षस, किन्नरादि।

ज्योतिषी :– जो लोक में प्रकाश करते हैं अथवा जिनके विमान प्रकाश करते हैं, ऐसे विमानों में रहने वाले देव ज्योतिष्क कहे जाते हैं। पांच प्रकार के है :– चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा।

वैमानिक :– अतिशय सुन्दर विमानों में रहने वाले देव वैमानिक है। ये छब्बीस प्रकार के हैं। यूँ तो ऊर्द्ध्वलोक में सभी देव विमानों मे ही रहते हैं किन्तु जाति, स्वभाव आदि की विशेषता के कारण इनका भिन्न नामकरण है। ये मूल में दो प्रकार के हैं--कल्पोपन्न, कल्पातीत। प्रथम १२ देवलोक कल्प देवलोक और इनके देव कल्पवासी कहलाते हैं। कल्प का अर्थ है मर्यादा। जहां स्वामी-सेवक, इन्द्र सामानिक आदि का व्यवहार है अर्थात् शासक–शासित का रूप ही कल्प है किन्तु जहां इस प्रकार की कोई मर्यादा नहीं, एक समान ही है वे कल्पातीत कहलाते है। ये देव अहमिन्द्र भी कहे जाते हैं। ये भी दो प्रकार के हैं-ग्रैवेयक और अनुत्तर। लोक पुरुष की ग्रीवा-गर्दन की आकृति की तरह विमानों में रहने वाले अथवा ग्रीवा स्थान पर आने वाले ग्रैवयक कहे गये है।

अनुत्तर :–जिन देवों से अन्य देव आयु, प्रभाव, सुख, द्युति तथा लेश्यादि में उत्तर–प्रधान नहीं हैं, वे अनुत्तर वैमानिक कहलाते हैं।

पहले--दूसरे देवलोक तक ही देव-देवीयों का सामूहिक आवास

है आगे नहीं। मनुष्य लोक में यदि किसी कारण से देवों का आना हो तो कल्पोपन्न ही आते हैं कल्पातीत नहीं।

नोट :—देवों के विशेष ज्ञान के लिए अनुवादक द्वारा सम्पादित 'तत्व चिन्तामणि' पुस्तक १-२-३ को देखें तथा इसी कवि का 'देवरचना' नामक ग्रन्थ।

उत्थानिका— इन्द्रादि के पश्चात् पृथ्वीपति चक्रवर्ती आदि सम्राटों के समवसरण में आगमन का कवि वर्णन करता है :—

छन्द : सवैया (२३ वर्ण)

चक्रपती वर केशव श्री बल,-देव महानृप मण्डलराया,
भक्ति करी चतुरंग चमू सज, नाद बजंत्र समेत सुहाया।
श्री जिन वंदन पुच्छन हेतु, समोसरणे परिवारसु आया,
तीन प्रदच्छिण दे चरणी नमि, धर्मकथा सुनने चित लाया २५

मूलार्थ :—वह षट् खण्डाधिपति, पूर्ण भरत स्वामी, चक्रवर्ती सम्राट्, उत्तम ऋद्धि के धर्ता अर्द्ध-भरताधिपति त्रिखण्डि वासुदेव तथा इनकी दाहिनी भुजास्वरूप वृहद् भ्राता महाबली बलदेव राजा तथा राजाधिराज माण्डलिक राजा आदि भक्ति भाव से प्रेरित होकर चतुरंगिणी सेना, विविध वाद्य आदि शोभा सहित जिनेश्वर देव को वंदन करने, विविध प्रश्न आदि पूछने के लिए सपरिवार आते हैं और तीन प्रदक्षिणा देकर चरण कमलों में नत होकर धर्म कथा सुनने में दत्त-चित्त हो जाते हैं।

विवेचन :— जैन शास्त्रों के अनुसार भरत क्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती सम्राट् कहलाता है। पूर्ण भरतक्षेत्र का क्षेत्रफल ७६, १५,

३१५ वर्ग योजन होता है और इसमें बत्तीस हजार देश होते हैं, उनका एक-एक राजा होता है, उन पर यह सम्राट् होता है, इस सम्राट् के पास चक्र आदि चौदह रत्न, नव-निधान तथा बीस हजार कान होती हैं। ये बारह हुए है। जैसे—भरत, सगर, मघव, सन्तकुमार आदि।

केशवः—इससे अभिप्राय श्रीकृष्ण से ही नहीं, अपितु त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, संभव, पुरुषोतम, पुरुषसिंह, पुरुष पुण्डरीक, दत्त लक्षमण आदि नव राजाओं से है। जैन शास्त्रों में केशव, वासुदेव आदि शब्द श्री कृष्ण के वाचक ही नहीं, बल्कि सोलह हजार राजाओं के अधिपति राजा के है। ये महाबली होते हैं इनके पास सुदर्शन-चक्र जैसे-प्रसिद्ध अस्त्र-शस्त्र होते हैं। इनका पुण्य, द्युति, यश असीम होता है। शारीरिक बल दस लाख योद्धाओं जितना माना गया है। कोटि मन, परिमाण वाली पाषाण शिला को हाथों से उठा लेते हैं। शरीर का वर्ण नीलमणि जैसे होता है, पीत वस्त्र के धारक होते हैं आदि।+

इन्हीं वासुदेव क्षत्रिय के बड़े भाई बलदेव या बलराम कहलाते हैं। बलदेव शब्द नाम का वाचक नहीं अपितु पद का वाचक है। ये भी संख्या में नव होते हैं जैसे—अचल, विजय, भद्र सुपर्व, सुनन्दन, आनन्दन, नन्दन, रामचन्द्र बलभद्र। ये अतिशय

+ सतुमद्दणा, रिपु सहस्समाण महणा, अद्ध भरहसामी, राय कुल वंस तिलया, अजिया, अजिय रहा, संख-चक्क गयसत्ति नंदगधरा........हल मुसल कणक पाणी.... ...

नीलापीयग वसणा दुवे दुवे राम केसवा भायरो होत्था। तं जहा-तिविट्ठ जाव कण्हे, अयले जाव रामे यावि अपच्छिमे।—सम० २०७

सुन्दर शरीर एवं रूप वाले होते हैं। शारीरिक बल भी असीम होता है। प्रकृति से शांत दांत एवं नम्र होते हैं। शरीर का वर्ण गौर तथा हरित वस्त्र धारण किये होते हैं।

शास्त्रकारों ने क्षत्रियों में इन्हें ही उत्तम बतलाया है -- उत्तम पुरिसा, मज्झमपुरिसा, पहाण पुरिसा, अर्थात् (चक्रवर्ती) बलदेव वासुदेव। दश ऋद्धि सम्पन्न पुरुषों में इनकी गणना की है। उक्त महर्द्धिक पुरुष तथा अन्य सत्ताधीश, लक्ष्मीपति आदि समवसरण में दर्शन पूजन, सत्कार, सम्मान, अर्थ-हेतु-कारण व प्रश्न पूछने के लिए प्रसन्नमना होकर स्वऋद्धि का प्रदर्शन करते हुए सपरिवार आते हैं।

संगति :-- आगम में तो प्रस्तुत ग्रन्थ से भी अधिक दर्शनार्थियों का वर्णन मिलता है। बहवे उग्गा, उग्गपुत्ता, भोग-भोग पुत्ता एवं दुपडोया- रण्ण राइणा, खत्तिया माहणा भडा, जोह, एसत्थारो, मल्लइ, लेच्छई लेच्छइपुत्ता, अण्णय राइसर, तलवर, मांडवीय, कोडंबीय, इब्भसेट्ठि सेणावई, सत्थवाह पभितिया ... . अणेगइया पूयणवत्तियं, सक्कारव- त्तिय, सम्माणवत्तियं दंसणवत्तियं.......अणेगइया अट्ठाइ-हेऊहिं— कारणाइ-वागरणाइ पुच्छिस्सामी........

अमरवई सण्णिभ ए इड्ढिए पहियकित्ती हय-गय रह पवर जोहका- लियाए चउरंगीणि सेणाए समणुगम्ममाणु मग्गे....... सव्व तुडिय जमग समग प्पावाइएणं संख-पणव पडह-झल्लरी खरमुहि हुडक्क मुख मयंग दुन्दुहि णिग्घोस णाईय रवेणं। अपं० १० -१२६ समवसरण अधिकार।

उत्थानिका:—देव मनुष्य आदि सामूहिक धर्म परिषद् में तीर्थङ्कर देव किस प्रकार शोभित हो रहे है तथा क्या करते हैं इसका कवि वर्णन करता है :--

छन्द : मत्तगयंद

साधु महातम साधवि के गण,श्रावक श्रावकणी मुख मिष्टी,
भव्य चहूं विधि देव सुरांगन, खेचर-खेचरणी समदिष्टी।
पुण्य उदे तिरजंच तथा त्रिय सोभत धर्म सभा गुण गृष्टी,
श्री त्रय लोकपती प्रभु सुन्दर,सोभत मध्य सुधाघन वृष्टी।३६।

मूलार्थ :—उक्त समवसरण में पांच महाव्रत आदि सताईस गुणधर्ता, बाह्य-आभ्यन्तर तप का कर्त्ता साधु-साध्वी, वृन्द, देशविरति, सम्यक्त्व के धारक श्रावक एवं श्राविकाएं जो मुख से मधुर वचन के उच्चारण करने वाले हैं तथा चार निकाय के भव्य-देव-भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी एवं देवियां, समदृष्टि विद्याधर नरपति और उनकी रानियां तथा अतीव पुण्य के उदय भाव से त्रय तिर्यञ्च—खेचर, स्थलचर जलचर भी श्रद्धाभाव से गुण-ग्रहण करते हुए शोभित हो रहे हैं।

इस प्रकार तीन लोक के स्वामी जिनश्वरदेव उक्त बारह प्रकार की सभा में (परिषद्) में धरा पर घनकी भांति अमृत वर्षा करते हुए अतिशय सुन्दर प्रतीत होते हैं।

विवेचन :—उक्त पद्य में कवि ने बारह प्रकार की आयी हुई समवसरण की परिषद् का वर्णन किया है। ये पार्षद् अपने वैरभाव को भुलाकर भगवद् वाणी का किस प्रकार एकत्रित रूप में दत्त चित होकर पान करते हैं। यह दशा तीर्थङ्कर देव के अति-

---

+राजति, इत्यपि पाठः दृश्यते। इसमे अर्थ होगा सभा मध्य में धर्मवृष्टि शोभित हो रही है।

+'तप' इति अन्यत्र दृश्यते

शय शुभ्र एवं शीतल प्रकृति की द्योतक है कि जिसके दर्शनमात्र से हिंस्र जन्तु भी अपनी हिंसा भावना, क्रूर स्वभाव को छोड़कर और परस्पर निर्भय होकर एकत्रित हुए हैं। यहां सिंह, बकरी, राक्षस, मानव एक ही अमृत पात्र में पान करते हैं। दीन अपनी दीनता और नृप अहं भाव को छोड़कर एक स्थान पर स्थित हैं आदि।

संगति:—"तिसेय महति महालियाए परिसाए, इसिपरिसाए, मुणि-परिसाए, जईपरिसाए देवपरिसाए, अणेगसयाए अणेगसय वंदए, अणेग सय वंद परिवाराए, अरहा धम्मं परिकहइ....औप, १२६ सम०

उत्थानिका :—निम्न पद्य में ग्रन्थकार स्पष्ट करेगा कि वह धर्म-कथा कैसी है अर्थात् सर्वज्ञ देव किस तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं :—

छन्द : मत्तगयंद

जीव-अजीव कु पुण्य कु पाप कु, आश्रव संवर को निजरा को,
बंध कु मोख कु भाषत हैं, अनगार अगार को धर्म धरा को।
सर्वही जीवको? ठाम गतागति, आयु, क्रिया, चित्त भावगिराको,
भोग संयोग वियोग समीजिय, के प्रभु जानत परम्परा को।३७।

मूलार्थ :—समवसरण में सर्वज्ञ देव जीव-अजीव पदार्थ का पुण्य, पाप, आश्रव, संवर निर्जरा का, बन्ध और मोक्ष का स्वरूप निरूपण करते हैं। तथा अनगार सर्व विरति धर्म, अगार—देशविरति धर्म का एवं धर्म धारक श्रमण-श्रावक का कथन करते हैं, चराचर—त्रस-स्थावर जीव के आवागमन का स्थान गति-आगति का, आयुष्य का, क्रिया स्थान का, चित्त के भावों परि-

? 'कि'

णामों का, सत्य-असत्य आदि भाषा का, वस्तु के भोग, संयोग वियोग आदि जीव की विभाव परम्परा को जिसे सर्वज्ञ जनाते है कथन करते हैं।

विवेचन :—सर्वज्ञ देव सर्व प्रथम प्राणी को आत्मा की प्रतीति करवाना चाहते हैं। जब तक आत्म-प्रतीति नहीं होगी तब तक वह विभाव परिणति में ही लीन रहेगा और स्वभाव परिणति से दूर, अतः प्रथम जीव तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि जो जोव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, यह कर्म-पुण्य-पाप को भी नहीं जानता। अतः सर्वज्ञ कहते हैं 'जे एगं जणाइ से सव्वं जाणाई + जीव ज्ञान से वह उसकी शुद्ध एवं अशुद्धावस्था ज्ञान प्राप्त करेगा और फिर उसके (अशुद्धताके) कारणों को जानकर विचार करेगा तत्पश्चात् उसके मुक्त होने का उपाय भी करेगा। प्राणी को जब कारण का ज्ञान होता है तो अन्य सब विभाव परिणतियों का ज्ञान स्वयं ही होता चला जाता है अतः अजीव आश्रव, पुण्य-पाप, बन्ध तथा मोक्ष तत्व का सर्वज्ञ प्रतिपादन करते हैं।

टिप्पणी :—जीव-जिसमें चेतना, ज्ञान सुख-दुख का अनुभव विचार शक्ति आदि पाये जायं वह जीव हैं। Livinig being. "According to the Jaina view soul is that element which knows, thinks and feels. It is infact the divine element in the living being.-

–Jaina philosophy

× अत्ताण जो जाणति जो य लोगं, गइं च जो जाणइऽणागइं च।
जो सासयं जाण असासयं च, जातिं च मरणं च जणोववायं ॥२०॥
— अभि० पृ. ५५६

अजीव :–जड़, जिसमें चेतना न हो, सुख-दुख के अनुभव की शक्ति न हो (Matter and energy. Non living being) अ + जीव, नहीं है जीव, वह अजीव।

पुण्य-शुभ कार्य जो आत्मा को पवित्र करता है वह पुण्य है।

पाप – जो आत्मा का पतन करता है वह पाप है। अशुद्ध कर्म हिंसा आदि।

आश्रव – मन-वचन और काय योग से आत्मा के लोक में कर्मों का आना आश्रव है। यह दो प्रकार का है – द्रव्य और भाव। कर्म पुद्‌गलों-अणुओं का आना द्रव्य आश्रव है और उनके आने में कारण भूत संक्लिष्ट परिणाम, बुरे विचारभाव आश्रव है।

बंध – आत्म-प्रदेशों पर आये हुए कर्माणुओं का आत्म-प्रदेशों के साथ नीर-क्षीर वत् मिल जाना, सम्बन्ध हो जाना बन्ध है। A bondage. "A harmonious mingling and the soul-particules and the molecules of Karmas.

मोक्ष – 'कृत्स्नः कर्मक्षयो मोक्ष' आत्मा द्वारा किए हुए सम्पूर्ण कर्मों का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है अथवा आत्मा का सम्पूर्ण एवं सर्वदा के लिए कर्मों से मुक्त हो जाना मोक्ष है।

The Complete freedom of the soul from Kramic Matter is called "Moksha.

निर्जरा – आत्म-प्रदेशो से कर्मों का जीर्ण होकर एक भाग से अंश रूप में अलग हो जाना निर्जरा है। अथवा बन्धे हुए कर्मों का आत्मा से दूर हो जाना निर्जरा है।

"Nirjara" means the falling away of Karmic matter from the soul.

—The out line of Jainism By J.J. Jai

संवर – आश्रव का निरोध ही संवर है। अथवा कषाय तथ योगों द्वारा आते हुए कर्मों का संयम, व्रत आदि द्वारा रुक जाना संवर किया है।

अणगार – साधु, अगारो यस्य न विद्यते स अणगारः–जिस किसी प्रकार का गृह आदि का प्रतिबन्ध नहीं है अर्थात् घर आदि बन्धन से रहित।

अगार – गृहस्थ, जिसमें नाना प्रकार का विश्राम पाया जाता है।

गतागति – आवागमन, जीव का एक देह आदि को छोड़कर अन्य देह आदि का धारण करना। अथवा मरना–जन्म लेना (Coming and going back from one state of life into another) अथवा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव गति में जीव जन्म–मरण करता है उसका समाचीन कथन।

उत्थानिका–कवि निम्न पद्य में सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित धर्म का कथन करता हुआ उसके फल का भी वर्णन करता है :—

छन्द : मत्तगयंद

दान सुशील तपो युत भाव, चहूं विध धर्म महाफल दाता,
मोक्ष करें सुख स्वर्ग भरें, नरलोक विषे बहुरीद्धि मिलाता।
दारद दुःख करै चकचूर, लहै जिह उत्तम संपति साता,
तीरथनाथ बखानत हैं इम, धर्मकथा सुनते बहु ज्ञाता।३८।

मूलार्थः—दान-शील-तप और भावना रूप चार प्रकार का धर्म ऋद्धि, रूप आदि अनेकों महाफलों का देने वाला है, (शुद्ध, निष्काम भाव से यदि आचरण किया जाए तो) मोक्ष प्रदाता है, सुख से परिपूर्ण स्वर्ग का देने वाला है तथा मनुष्यलोक में निरोग देह, दीर्घायु, धन-धान्य, सुपरिवार आदि बहु भांति रिद्धि का संयोजक है, निर्धनता आदि दुख का विनाशक है तथा इसे जो धारण करता है वह उत्तम सम्पत्ति एवं सुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार तीर्थङ्कर देव धर्म तत्त्व का, उसके परिणाम का कथन करते हैं और जिसे (धर्म कथा) सुनकर जीव बोध को प्राप्त होते हैं अर्थात् ज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से हेय का त्याग करते हैं।

विवेचनः—कवि ने प्रस्तुत पद्य में दानादि धर्म का (फल) महात्म्य-निर्देश किया है। विशेषतः दान की तीन फल-परिणतियों का :—

१. दान से कर्म-निर्जरा होकर मोक्षः प्राप्ति या स्वर्गीय वैभव की सम्प्राप्ति होती है।
२. मनुष्य लोक में विविध प्रकार की ऋद्धि की उपलब्धि होती है।
३. दारिद्रय, दुःख आदि का नाश तथा उत्तम सम्पत्ति का मिलना।

दान धर्म के लिए भी सुपात्र, सुविधि तथा सुपदार्थ की अपेक्षा मानी गई है अन्यथा निर्जरा न होकर पुण्य तथा अशुभ कर्म का बन्ध भी हो सकता है।

दान की भांति शील, तप और भावना के फल का भी यही सामूहिक फल है। अन्यत्र शील से रूप, तपः से प्रताप और भावना से सौम्यता गुण की प्राप्ति बतलाई है। नीति में दान दारिद्रय का, शील दुर्गति का, प्रज्ञा अज्ञान का और भय अथवा

भव-जन्म, मरण का नाश करती है ।+ साथ ही इस अनुष्ठान को दया, कर्तव्य तथा आत्म-शुद्धि के कारण धर्म की संज्ञा दी है। दान का अर्थ है मन में अनुकम्पा लाकर किसी के दुख को दूर करने के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना। अथवा कर्तव्य का पालन विवेकपूर्ण करना। शील से अभिप्राय सदाचारण है। ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विवेक। इच्छाओं का निरोध तप है, इसके लिए अनशन, ऊनोदर आदि वाह्य तथा विनय आदि आभ्यन्तर रूप हैं। विचार, अध्यवसाय तथा परिणामों का शुभ रहना ही भाव धर्म है।

संगति—दाणं सीलं च तवो, भावो एवं चउव्विहो धम्मो ।
सव्व जिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सुय चरित्तेहिं ।।–सप्त. ४१श.

उत्थानिका-अब कवि सर्वज्ञदेव की धर्म कथा से होने वाले परिणाम का वर्णन करता है—

छन्द : मत्तगयंद

या सुन वाक् विराग चढ़े, षट् खंडपति बलदेव नरेशा,
राज सुतादिक मन्त्रि महाभट, सैनपती बलवन्त खगेशा।
सेठ धनी नर-नारि घने, सुख भोग तजे गृह संजम वेशा,
श्रीजिनशासन मांहि भये, रिषि छाडि दियो भवभार कलेशा ३।

मूलार्थ-सर्वज्ञ देव के उन मनोहारी एवं हितकारी वचनों को सुनकर चक्रवर्ती सम्राट् बलदेव राजा, राजकुमार, मन्त्री, सचिव, योद्धा, सेनापति, अतुल शक्ति के धारक विद्याधर नरेश तथा श्रेष्ठी अपार धनराशि के स्वामी इत्यादि श्रेष्ठी सार्थवाह

+दारिद्रय नाशनं दानं, शीलं दुर्गति नाशकम्,
अज्ञान नाशिनी प्रज्ञा, भावना भव नाशिनी।'

गाथापति आदि अनेकों नर-नारियों को विराग-भाव उत्पन्न हुआ और वे अपने प्राप्त सुख एवं भोग का त्याग करके संयम के वेष को धारण कर लेते हैं अर्थात् संयति बन जाते हैं ।

इस प्रकार जिन शासन में ऐसे ऋषि-महर्षि हुए हैं जिन्होंने भव-भ्रमण के लम्बे क्लेश को नष्ट कर दिया है ।

विवेचन–देवाधिदेव धर्मकथा के उन सुन्दर वचनों को जो संसार की असारता, धर्म एवं आत्मा की अखण्डता का ज्ञान कराते हैं श्रवण कर, ज्ञान प्राप्त कर कई आत्माएँ गृहीत मार्ग को छोडकर अपने सम्यग् मार्ग को ग्रहण कर लेती हैं । आत्मा के परिज्ञान के मुख्य साधन हैं पठन और श्रवण । यह श्रवण की महिमा है । श्रवण से प्रथम हेय उपादेय का ज्ञान होता है जिसे ज्ञेय कहते हैं पश्चात् हेय का परिहार और उपादेय का स्वीकार होता है । अथवा यूं कहें ज्ञ परिज्ञा के द्वारा जानना और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करना यही जिन मार्ग की पद्धति है ।

आचारांग सूत्र में इन्ही दोनों परिज्ञाओं का कथन है । वहीं एक प्रसंग में कहा गया है कि जीव को सामान्यतः यह ज्ञान नहीं होता कि वह कहां से किस दिशा आया है, कहां जायेगा और वह क्या करेगा आदि । आगे चलकर विधान किया है कि किसी २ को इस प्रकार का ज्ञान होता भी है कि वह कहां से आया है, कहां जायेगा क्या किया है, और क्या करेगा आदि वह किस तरह उत्तर–पर व्याकरण-और स्व सन्मति से । अर्थात् तीर्थङ्कर देव, गणधर तथा अवधिज्ञनी आदि मुनि के कहने पर अथवा जाति-स्मरण आदि ज्ञान से ।

इस प्रकार जीव अपने जीवन मार्ग को प्राप्त करता है । यहां परोपदेश से ही तात्पर्य है । स्वयमेव ज्ञान द्वारा मार्ग की प्राप्ति का अभाव तो नहीं किन्तु दुर्लभ अवश्य है । अधिकतया

प्रेरणा से ही जागृति आती है। भगवती सूत्र में श्रवण-महिमा का वर्णन करते हुए ज्ञानी गौतम के प्रश्न के उत्तर में भ० महावीर कहते हैं - श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, इसमे प्रतिज्ञा का फल संयम की प्राप्ति है। संयम से आश्रव का निरोध होता है, योग निरोध से आत्म-निर्वाण और निर्वाण से सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है।

अतः देवाधिदेव के धर्म प्रावचन को सुनकर जीव प्रथम संवेग अवस्था को प्राप्त होता है पुनः निर्वेद को। जैसे भ० माहवीर के समवसरण में धर्म कथा सुनने के लिए गए हुए राजादि ने सहसा खड़े होकर यह निर्ग्रन्थ प्रावचन सत्य है, अनुत्तर है, सर्व दुखों का नाशक है, इस पर स्थित जीव सिद्ध, बुद्ध मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है। ऐसे धर्म पर श्रद्धा प्रतीति, करता हूँ, उसका स्पर्शन और पालन करता हूं। "इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं, अणुत्तरं सव्वदुक्खाण पहीण मग्गं, इत्यंठिया जीवा सिज्झंति. बुज्झंति–तं धम्मं सद्दहामि, पत्तयामि, रोयएमि फासेमि, पालेमि इत्यादि कहने लगते। यह वतलाना ही कवि का अभिप्राय है।

संगति :– तएणं सा महिति महालिया मणूस परिसा समणस्स भगवओ........अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठ तुट्ठ जाव हियया उट्ठाए उट्ठित्ता........अत्थेगइया मुंडे भविता ....अत्थेगइया........ दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवाण्णा वो कई मात्र श्रद्धाशील ही बनते।—

टिप्पणी :—जन्म मरणादि भय से आत्मा का उद्विग्न होकर शब्दादि विषयों से तृप्त हो मोक्ष की अभिलाषा का उत्पन्न होना वैराग्य है।

उत्थानिका :— धर्मोपदेश द्वारा संयम मार्ग को ग्रहण कर लेने के बाद जीवन की क्या दशा होती है, कवि उसे स्पष्ट करता हुआ संयम के फल का निर्देश करता है :–

छन्द : सवैया (२३ वर्ण)

जासु+प्रसाद भये÷सुर सिद्ध, विमान अनुत्तर मांहि विराजे,
देव भले अहिमिंद भये, बड भाग सुरिंद महा छवि छाजे।
देव गुरू पद इन्द्र समानिक, लोकपती पदवी गुण साजे।
चक्रपती बल केशव भूप, महाधन रिद्ध लई जग गाजे ॥४०॥

मूलार्थ :---जिसकी (धर्मकथा अथवा संयम की) कृपा से कई संयम (यहां से देह का त्याग कर) सिद्ध--कर्म मल से सर्वथा रहित हो गए है, तो कई पंच अनुत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए हैं। तो कई अहमिन्द्र हुए हैं.अर्थात् नव ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए हैं। तथा कई एक सुरेन्द्र--देवराज इन्द्र के रूप में जो महा द्युति से शोभित है आगये हैं अथवा कल्पवासी देवों के स्वामी बन गये हैं, जहां छोटे-बड़े का शासक-शासित. स्वामी-सेवक इन्द्र, सामानिक आदि का भेद है, तो कई संयम के प्रभाव से गुरु कर्मों का नाश कर, अनंत पुण्य का अर्जन करके चक्रवत्ति, बलदेव जैसे महर्द्धिक राजा के रूप में पृथ्वी जन्म लेते हैं।

विवेचन :---संयम एवं तपश्चरण से कर्मो की निर्जरा होती है। यदि सर्वांश में कर्मो की निर्जरा हो जाती है तो आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन होकर सिद्ध बन जाता है, यदि अल्पांश में निर्जरा हो और कर्म शेष रह जाएं तो आत्मा देव एवं मनुष्य भव में अतुल साधनों सहित जन्म लेकर सुख का उपभोग करता है। देव जीवन में अहमिन्द्र अथवा और मनुष्य जीवन में चक्रवति एवं बलदेव, वासुदेव का पद सुख-भोग का प्रकर्ष घर है। किन्तु सुख का आधार वस्तु है और वस्तु आकर्षण पुण्य के पुद्गल हैं अतः

+जास÷ 'शिव'–पाठान्तरे ।

पाप कर्म का अभाव और पुण्य जा सद्भाव ही मानसिक, शारीरिक सुख का कारण है, तो संयम इसमें वृद्धि कारक है। कवि के कथन का यही तात्पर्य प्रतीत होती है कि संयम से कर्म निर्जरा और निर्जरा से आत्मा लघुता को प्राप्त होता है और वह ऊर्ध्व दिशा को गमन करती है। उसे प्रशस्त संयोग प्राप्त होते हैं।

उक्त पद्य की निम्न गाथा से संगति होती है—

समोवसंता अममा अकिंचणा, सविज्ज विज्जाणुगया जसंसिणो।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा, सिद्धिं विमाणाइं उवेंति ताईणो।

अर्थात् वे कषायोपशान्त, ममत्व रहित, अकिंचन, विद्यावान, यशस्वी आदि विशेषताओं से युक्त पुरुष सिद्धावस्था को प्राप्त होते हैं अथवा वैमानिक देवों में। (वहां व्यन्तर आदि अन्य तीन निकायों में जन्म का निषेध है।) उक्त पद्य में भी वैमानिकों में उत्पन्न होने की बात कही गई है। आराधक वैमानिक निकाय में ही उत्पन्न होता है।

उत्थानिका :—देवाधिदेव की धर्म कथा को सुनकर तिर्यञ्ची भी ज्ञान को प्राप्त कर संयम मार्ग को स्वीकार कर लेते हैं, निम्न पद्य द्वारा बतलाया गया है—

छन्द : सवैया

जासु प्रसाद फणी गज गो मृग, नाहर वानर और कहे हैं,
दादर खेचर भव्य घने, पिछले भव जाति पिछान रहे हैं।

+विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए,
सरीरं पाढ़वं हिच्चा, उड्ढ पक्कमए दिसं। उत्त०। तथा उड्ढं, कप्पेसु चिट्ठंति उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगे अभिजाय।

+चइत्तु देहं मलपंक पुव्वयं। सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्पइए महिड्ढीए। —उत्त० १।४८।

भक्त भए शुभ भाव करी,तप स्वर्ग के भोग विलास रहे हैं,
भोग भले जुगाल जनके,बहु रिद्ध नरिंद धनाढ़ गहे हैं। ४१॥

मूलार्थ --उक्त धर्म कथा के प्रभाव से सांप, हाथी, गाय, हरिण, शेर और वानर आदि स्थलचर, तथा दादुर-मेढ़क आदि जलचर जन्तुओं, कपोत आदि खेचर जैसे अनेकों पशु-पक्षियों ने अपने पूर्व भवको (जन्म) जाना है अर्थात् जातिः स्मरण ज्ञान हुआ है और संवेग को प्राप्त होकर, शुभ परिणाम से तप का आचरण कर स्वर्ग के सुख का उपभोग कर रहे हैं, किया है अथवा कई युगलिक बन गये हैं जिन्हें प्रकृति प्रदत्त भव्य सुख प्राप्त है तथा तप के प्रभाव से कई एक नरेन्द्र, ऋद्धिपति, धनाढ्य रूप में जन्म लेकर सुख का उपभोग कर रहे हैं।

विवेचन :—तीर्थंकर देव की धर्म कथा को श्रवण कर कितने ही संज्ञी तिर्यञ्चों को जाति स्मरण ज्ञान हुआ है और उन्होंने अपने पूर्व जन्म को जाना है देखा है। कई एक को तो कथा प्रसंग के श्रवण मात्र से ही उत्पन्न हुआ है और किसी को उसके पूर्व जन्म के निर्देश करने पर। जैसे मेघकुमार को, चण्डकौशिक सांप को भगवान महावीर द्वारा निर्देश करने पर कि वह पूर्व जन्म में कौन थे और किस कर्माचरण से यह अवस्था हुई है आदि।

जातिः स्मरण का अर्थ है वह ज्ञान जिसके उत्पन्न होने पर जीव अपने पूर्व भव-जन्मों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। जाति+ जन्म, स्मरण ❀ स्मृति-पूर्व जन्म की स्मृति [The memoy of past life] यह ज्ञान मोह एवं मति ज्ञानावरण कर्म की उपशांति से प्रकट होता है। यह संज्ञी जीवों [With mind] को

+भक्ति ❀ महावीराष्टक, श्लोक

ही होता है। उक्त ज्ञान वाला अपने संज्ञी भव के नव सौ जन्म को जानने की शक्ति रखता है।

पद्य में दूसरी बात तप ग्रहण की कही गई है, तो यह स्वाभाविक ही है कि हृदय-स्पर्शी प्रेरणास्पद वचनों को सुनकर तथा पूर्व जन्म की अपीन अच्छी-बुरी स्थिति को जानकर उत्कट संवेग को प्राप्त हुआ जीव जीवन को बन्धन मुक्त करने के लिए सर्व-संगों का त्याग करता है। यही निर्वेद अवस्था त्याग और तप कहलाती है। जैसे चण्डकौशिक ने अपने काय आदि योगों का निरोध तथा आहारादि का त्याग किया और इस तपश्चरण से स्वर्ग का वासी बना। और यह निर्विवाद ही है कि शुभ कर्म का फल शुभ ही होता है अतः स्वर्गादि के अधिकारी तिर्यञ्च भी होते हैं केवल मनुष्य ही नहीं। जिन मार्ग में जाति विशेष का अधिकार नहीं बल्कि संयम का समादर है। "जाति को भेद नहीं जिन मार्ग संयम को प्रभु आदर दीनों "आगम में तथा पूर्वाचार्य रचित महावीराष्टक में एक दर्दुर [मेढ़क) का "यदर्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह, क्षणादासीत् स्वर्गी गुण गण समृद्ध सुखनिधिः" जीवन मिलता है जो भगवान के दर्शन तथा व्याख्यान श्रवण के लिए श्रद्धा संयुत प्रमुदित मन से निकला किन्तु राजा के घोड़े के पांव के नीचे आकर शुभ परिणामों में शरीर त्याग कर स्वर्ग का अधिकार बना अस्तु, शास्त्रीय दृष्टिकोण से तिर्यञ्च-पशु--पक्षी मर कर भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा आठवें देवलोक तक जन्म ले सकता है और गृहस्थ के बारह व्रत (अणुव्रतों) में से ग्यारह व्रत स्वीकार कर सकता है तथा ये पांच संज्ञी तिर्यञ्च, कर्मभूलक और युगलिक जन्म में आ सकते हैं।*

---

*से जे इमे सण्णि पंचिंदिय तिरिक्ख जोणिया पज्जतया भवंति। तं जहां--जलयरा थलयरा खहयरा, ग्रत्थेगइयाणं सुभेणंपरिणामेणं

उत्थानिका –निम्न पद्य में कवि उनके परम भक्त बन जाने की बात कहता है जो अपनी कार्य-विद्या आदि मे उन्मत्त बने हुए थे।

छन्द : सवैया २३ वर्ण,

वेद पुराण पढ़े रच यज्ञ, रिझाइके देव महा मद÷पाये,
वाद जई गुरु मान् कवी·हरि, वारद सारद कंठ कहाये।
विप्र पती परिवर्जक॰पंडित, आइ प्रभू ढिग हो विसमाये,
देख प्रताप लगे चरणां कुछ,प्रश्न करी समझे मन आये।४२।

मलार्थ:—(जिनेश्वर देव के अतिशय स्वरूप तथा अनुपम वाणी को सुनकर) देव एवं पुराणों के ज्ञाता, अश्वमेघ आदि यज्ञों को रचकर देवों को प्रसन्न कर मद में फूले नहीं समाने वाले याज्ञिक, वाद विवाद में जो प्रतिपक्षी को पराजित कर सूर्य सदृश कान्तिमान वृहस्पति के सदृश बन गये हैं, जो सरस्वती पुत्र हैं अर्थात् जिनके कण्ठ पर वर देने वाली सरस्वती देवी का वास है, कवि केशरी तथा कई परिव्राजक, पण्डित-मतिमान आदि जब कभी उनके समीप आये हैं विस्मित हो गये हैं। उनके प्रभाव-शाली जीवन को देखकर ही कुछ तो नतमस्तक हो गये हैं और कुछ प्रश्नों का समाधान पाकर मार्ग में आ गये हैं।

····कम्माणं खओवसमेणं ···सण्णि--पुव्वजाई--सरणे समुप्पई। तएणं समुप्पण्ण जाइ सरणा समाणा सयमेव पंचाणुव्वयाइं—सील०वय—गुण—वेरमण—पच्चक्खाण—पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाण.... उक्कोसेणं सहस्सारेकप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

—ओप भगवान--गौतम जलचरादि संवाद, सूत्र ५७–५८

२॰ जीवाभिगम, प्रज्ञापना, स्थानांग, ८ स्था०

॰ गर्जत, परिव्राजक ÷पद

विवेचन—यह देवाधिदेव के भव्य आकर्षण एवं ज्ञान की सर्वज्ञता का मनोहारी चमत्कार है जिसके कारण बड़े-बड़े विद्वान् और क्रियाकाण्डी भी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और उनके चरणों में तथा उनके द्वारा प्रतिपादित मार्ग में निष्ठावान् हो जाते हैं। आगम में उल्लेख है कि देवाधिदेव के समीप जब भी कोई जिज्ञासु या वादी समाधान पाने या वाद-विवाद के लिए आता वे (देवाधिदेव) उसके मनोगत संकल्प को प्रश्न करने से पूर्व ही प्रकट कर देते, इस पर प्रतिपक्षी आश्चर्यान्वित हो जिज्ञासु बन-कर श्रद्धावनत हो जाता।

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में कवि जिनेन्द्र देव द्वारा पराजित हुए उन दार्शनिकों, विद्वानों का वर्णन करता है —

छन्द : सवैया

वेद पुराण के धारक हैं, इतिहास कहें सम+ वेदहि जाने,
आठहिं अंग निमित्त लखैं, अंक ×गुणे बहुभाग पिछाने।
कोश धरै बहु शब्द को साधि, निरूक्त करें बहु छंद बखाने,
न्याय के और घणीविध पण्डित,श्रीजिन जीत लिये अममाने॥

मूलार्थ—वे जो वेद और पुराण शास्त्र के ज्ञाता हैं, इतिहास आदि सभी वेदाङ्गों का व्याख्यान करने वाले, अष्टाङ्ग ज्योतिष के जानने वाले, अङ्क आदि की गणना से (शकुनावली आदि से) भविष्यवाणी करने वाले, भाग्य को जानने वाले तथा शब्दकोष के धारक, शब्द-सिद्धि के लिए व्याकरण-शास्त्र के ज्ञाता अर्थात् वैयाकरणी जो प्रत्येक शब्द की निर्युक्ति, व्युत्पत्ति बताते हैं और

+वैदक, ×प्रङ्ग, ?न्यायक—नैयायिक

छन्द-शास्त्र के निरूपक, पिङ्गल-शास्त्री, न्याय, दर्शन, आयुर्वेद आदि के निपुण आचार्यों के भ्रम को भग्न जिनेश्वर देव ने उनके एकान्त पक्ष को अनेकान्तवाद से पराजित कर दिया अर्थात् जीत लिया है।

विवेचन – वेद-वेदांग आदि वस्तु का एक पक्षीय स्वरूप निरूपण करते हैं जबकि वस्तु अनेक धर्मात्मक है और उसका प्रतिपादन अनेकान्त दृष्टिकोण से ही होता है। अतः जिनेन्द्र देव ने उक्त दार्शनिकों, विद्वानों तथा आचार्यों के जो वस्तु स्वरूप के अङ्ग मात्र के ज्ञाता हैं, मिथ्या ज्ञान एवं पाण्डित्य को अपूर्ण बतलाते हुए सम्पूर्ण वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराया है और वे नत हो गये हैं, ज्ञानी बन गये हैं। यही उनकी पराजय और देवाधिदेव की विजय है।

संगति – रिउवेय, जजुव्वेय, सामवेय, अहव्वणवेय, इतिहास पंचमाणं निघंटुछट्ठाणं, चउण्हं वेयाणं संगोवंगाणं, सरहस्साणं सारए, वारए, धारए पारए, सडंगवी, सट्ठि तंत-विसारए, संखाणे, सिक्खा कप्पे, वागरणे, छन्दे, निरुत्ते जोइसामयणे, अण्णेसुय बहुसुय बंभणएसु, परिव्वायएसु, नएसु सुपरिनिट्ठिएयावि होत्था। —भग० २ श. १ उ०

उत्थानिका— वे दार्शनिक कौन से थे निम्न पद्य में स्पष्ट करते हैं—

छन्द : सवैया

गौतम खंदक, सोमल से, शिवराय रिषी शुकदेव बखाने,
या विधि भव्य अनेक तरे, भव सिन्धु जहाज प्रभू पगमाने।
आप तरे बहुतार रहे× प्रभु, श्री जिनदेव जिनन्द सुजाने,
सेवक वंदत है कर जोर, करो मुझ पार दयानिधि दाने।४४

×'तारत है'–पाठान्तर

मूलार्थ–इन्द्रभूति गौतम, स्कन्धक, सोमल, शिवराज, शुकदेव परिव्राजक जैसे महानवादी, तार्किक तथा सन्यासधर्म के पालक आदि अनेक भव्यजन जिनेश्वर देव के चरणों में आकर संसार सागर से पार हो गये हैं अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त हो गये हैं, क्योंकि ये प्रभु संसार-समुद्र से पार करने जलयान के तुल्य हैं तथा देवाधिदेव ने स्वयं संसार–भव भ्रमण रूप समुद्र को तैर लिया है तथा अन्यों को तार रहे हैं ऐसे परमश्रेष्ठ श्री जिनेन्द्र देव की सेवकगण दोनों हाथ जोड़कर "हे दया निधे ! हे अभय प्रदाता ! हमें संसार सागर से पार करो" इस प्रकार विनती करते हैं।×

विवेचन-प्रस्तुत पद्य में कवि ने कतिपय दृष्टान्त उपस्थित कर सर्वज्ञ द्वार किए गए उपकार-कर्म का विधान किया है कि देवाधिदेव के अनुपम अनुग्रह से गौतम, स्कन्धक, सोमल शिव-राजर्षि, शुकदेव आदि अनेक भव्य-जीव सम्यग् मार्ग में गमन करते हुए जीव सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं। प्राणी वर्ग के कल्याण, तारण के लिए तो जलयान के तुल्य हैं। द्रव्य जलयान तो कभी २ प्राकृतिक समुद्र-संकट को पार नहीं करा सकता पर यह ऐसा अमोघ जलयान है कि संसार-सागर से निश्चित ही पार लगा देता है। इसीलिए कवि ने "आप तरे बहु तार रहे प्रभु" और अरिहन्त स्तुति में "तिण्णाए तारए" विशेषण प्रभु के लिए प्रयुक्त किये हैं।

"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" के अनुसार परस्पर (एक दूसरे) के कार्य में निमित्त होना यह जीवों का उपकार है। "एक जीव हित या अहित के उपदेश द्वारा दूसरे जीव का उपकार करता है" अतएव देवाधिदेव को कल्याण का निमित्त मानकर ही भक्त जन करबद्ध हो विनती करते हैं कि—

×कथा प्रसंग परिशिष्ट में देखिए

"करो मुझे पार दयानिधि दाने" हे दयानिधि ! हे सर्वज्ञ, हमें भी भव सागर से पार कीजिए।

आगम में वंदन-सूत्र में 'कल्याणं' शब्द का उल्लेख है अर्थात् कल्याण रूप को मेरा नमस्कार हो। इससे तात्पर्य कल्याणकर से ही है कि वे कल्याण करने वाले हैं।

यहां कवि ने उपदेष्टा के 'क्रियात्मक' होने का परिचय दिया है। जब तक वह स्वयं पालक होकर आदर्श उपस्थित नहीं करेगा तब तक जन साधारण के हृदय पर वह विराजित नहीं हो पाता। अतएव सर्वज्ञ के लिए विशेषण आया 'परगए'[1] संसार-समुद्र से पार हो गए हैं, जो स्वयं जीवन मुक्त है, वही मुक्त कर सकेगा, अन्य नहीं।

संगति—मग्गदए, सरणदए, बोहिदए, तिण्णए-तारए, बुद्धए-बोहए,
मुत्त-ए-मोयगए —भग०

१. विशेषावश्यक भाष्य, ज्ञाताधर्म कथांग अध्य०, ५.
भगवती सू. २०११, १०१६

उत्थानिका—अब कवि एक दो उदाहरण देकर यह स्पष्ट करता है वे देवाधिदेव इस भांति गिरते हुए जीवों को उबार लेते हैं, अतः तिण्णए तारए हैं—

छन्द : सवैया

साधवि साधु नियान कियो, जिन वीर छुड़ाय अराधिक कीने,
मेघकुमार गिरंत क्रियो थिर, सारथ साथ संभालहि लीने।
या विध और घणे जिय को, जिनराय समाध महासुख दीने,
सर्व जिणंद करै इम ही नित, सेवक वंदत प्रेम के भीने ॥४५॥

मूलार्थ—निदान कर्म किये हुए साधु एवं साध्वी वृन्द को

निदान कर्म का दुष्फल बता कर वीर प्रभु ने पुनः इसे संयम मार्ग का आराधक बनाया, श्रेणिक पुत्र मेघकुमार को संयम मे पतित होते को स्थिर कर सारथि की भांति कुमार्ग में जाते रथ को सम्भाला। इस प्रकार अनेकों पतितपावन जीवनों को बचाकर जिनेश्वर देव ने समाधि एवं मोक्ष के महासुख प्रदान किये हैं और फिर उन्होंने (वीर प्रभु) ही नहीं सभी देवाधिदेव इसी प्रकार (भव्य जीवों का उद्धार) करते हैं इसीलिए भक्तजन स्नेह-सिक्त होकर वंदन करते हैं।

विवेचन—उपर्युक्त पद्य में लक्ष्य भ्रष्ट तथा गृहीत साधना के प्रति हुई उपेक्षावृत्ति को जानकर सर्वज्ञ भगवान महावीर ने उन्हें हानि-लाभ का यथार्थ प्रतिबोध देकर पुनः मार्ग पर आरूढ़ किया इस प्रसंग का विवरणांश है। स्तोत्र सर्जा आचार्य मानतुङ्ग का एक गुण वर्णन—"आलम्बनं भव जले पतितांजनानाम्" सर्वथा उचित प्रतीत होता है।+

देवाधिदेव को श्रेष्ठमार्गदर्शक, परम गुरू तथा अशरण शरण दुखी जन वत्सल आदि अनेक विशेषणों द्वारा पुकारा है इन्हें जलपोत की भी उपमा दी है "संसार-सागर निमज्जदशेष जन्तु पोतायमान" जिस प्रकार जल में डूबते हुए प्राणी के लिए जलपोत जलयान बचाने में सहायक हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ भी संसार-सागर मे जन्म-मरण करते हुए प्राणी को उबारने में समर्थ हैं

कर्म के फल की कामना। अर्थात् स्वयं द्वारा किए गए तप-संयम के फल को अमुक वस्तु के लिए इच्छा करना अथवा उसे बेच देना। भगवान् ने इसका निषेध किया है, निदान कर्म के आचरण से तीन महादोष उत्पन्न होते हैं—पहला : आत्म-मलिनता, २. भोगासक्ति, ३. भविष्य में सम्यक्त्व तथा चारित्र की अनुपलब्धि। अर्थात् निदान कर्म को जीव जब तक नहीं भोग लेता तब तक शुभ कर्म में प्रवृत्त ही नहीं होता। फिर जिस वस्तु के लिए निदान किया है उसके अनुपात में यदि तप संयम नहीं हो तो इच्छित फल की प्राप्ति भी नहीं होती और उसके अभाव में जीव दुखी रहता है। अतएव शास्त्रकारों ने निदान को शल्य कहा है। शल्य से अभिप्राय कांटा या सलवट है। शरीर के अङ्ग में से चुभा हुआ कांटा जब तक नहीं निकल जाता अथवा वस्त्र आदि में पड़ा हुआ सलवट दूर नहीं होता वह रड़कता रहता है, इसी प्रकार व्रत-नियम में भी कपट-निदान तथा मिथ्या दर्शन शल्य व्रत आदि को शुद्ध नहीं रहने देते। इसीलिए विधान किया है "निःशल्योव्रती" अर्थात् व्रती शल्य रहित होता है।

शल्य तीन हैं : माया, निदान और मिथ्यादर्शन।+ मन में कपट का रखना, कृत कर्म के फल की कामना तथा अन्तर के दृष्टिकोण का मिथ्या-अयथार्थ होना, क्रमशः माया, निदान और मिथ्यादर्शन शल्य है। इसका आचरण व्रत को दूषित करता है अतः सर्वथा ताज्य है, हेय है और जो आचरण करता है वह सर्वज्ञ आज्ञा का उल्लंघन करता है, वह विराधक है।

अन्त में कवि ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा है–"सर्व जिणंद करे इम ही नित' कि सभी देवाधिदेव ऐसा ही करते हैं। आगम

+तओ सल्ला पण्णत्ता। तं जहा–मायासल्ले णियाणसल्ले मिच्छादंसणसल्ले। —स्था० ३।१४

में तीर्थ स्थापना, प्रवर्त्तना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है–सर्व जगत जीव-योनि के रक्षणार्थ तीर्थङ्कर भगवान ने प्रावचन की प्रवर्तना की है और भी, स्वयं भगवान महावीर ने कहा– "मैंने ही नहीं, पूर्व अरिहत भगवंतो ने ऐसा प्रतिपाद किया है, भविष्य में करेंगे।"

संगति–दशाश्रुतस्कन्ध तथा ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र पहला अध्याय।

उत्थानिका—कवि एक और उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ उनके नाम की सार्थकता सिद्ध करता है—

छन्द : सवैया

मान पलोपम सागरको, सुन चित्र? सुदंसण के चित्त आयो,
श्रीजिन ताहि दिखाई भवांतर, देव पणो नर रूप दिखायो।
पाइ विराग भयो मुनि उत्तम, या विधि भव्य अनेक तिरायो,
तोड़ महा अघ-जाल दियो सुख, देव शिरोमणि नाथ कहायो४६

मूलार्थ–मान, पल्योपम तथा सागर प्रमाण काल गणना को सुनकर सदर्शन के चित्त में संशय उत्पन्न हुआ, (तब) देवाधिदेव ने उसे उसके पूर्व जन्म (मनुष्य तथा देव भव) का साक्षात् कथन कर उसे देखकर वह वैराग्य को प्राप्त हुआ और श्रेष्ठ मुनि बना।

इस प्रकार देवाधिदेव ने एक नहीं अनेक भव्य-जीवों को संसार समुद्र से पार किया है, उनके पाप-समूह अथवा पाप-पाश तोड़कर मोक्ष अथवा देवलोक का सुख प्रदान कर देवताओं के शिरोमणि देवाधिदेव-नाथ कहलाये हैं।

? 'चित्त'

विवेचना :— प्रस्तुत पद्य में "दिखाय भवांतर" देवपणों नर रूप दिखायो, भव्य अनेक तिरायो, तोड़ महा अध-जाल, आदि से अभिप्राय है कि सर्वज्ञ देव को अनुपम वाणी को सुनकर जीव की मानसिक परिणति निर्मल, उसके विचार-कर्म आत्मानुकूल तथा जीवन एक विशिष्ट स्थिति वाला हो जाता है। यही सर्वज्ञदेव की कृपा, (प्रत्यक्ष) तारण, विमोचन आदि किया है। क्योंकि उनके मार्गदर्शन मात्र से ही जीवन उन्मार्ग को छोड़कर सन्मार्ग में प्रवृति करने लगता है। अन्यथा वे किसी के बन्धन स्वयं हाथों से नहीं तोड़ते, डूबते हुए को हाथों से नहीं उबारते अपितु उनके प्रेरक वचन ही सब कुछ कर देते हैं।

सर्वज्ञ उपदेश, देशना, प्रेरणा देते ही उसे हैं जो करने वाला है अर्थात् जीव का उपादान कारण स्वयं उद्‌भूत होता है और निमित्त (कारण) सर्वज्ञ आदि का प्राप्त होता है और कार्य सम्पूर्ण होता जाता है।

प्रत्येक जीव के विषय में सर्वज्ञ ने उपादान और निमित्त का विधान किया है किन्तु यह निश्चय की अपेक्षा कथन है व्यवहार में वाह्य निमित्त को प्रधानता है। उक्त पद्य में व्यवहार को मुख्यता दर्शायी है। सुदर्शन के जातिःस्मरण ज्ञान का कारण मोह कर्म को उपशांति और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही (उपादान) है क्योंकि जीव के ज्ञान का यही अवरोधक है किन्तु सर्वज्ञ देव का कथन और प्रेरणास्पद वचन—स्मरण करो, जाति स्मरण ज्ञान का वाह्य कारण बन गया और वे कर्म नष्ट हो गये। इस अपेक्षा से सर्वज्ञ ने 'भवान्तर देवपणों नर रूप दिखायो' कवि ने विधान किया है।

पद्य को अन्तिम पंक्ति 'तोड़ महाअघ जाल दियो सुख, देव शिरोमणि नाथ कहायो, में अर्थ-भ्रांति प्रतीत होती है कि सर्वज्ञ-

देव भक्तों के पाप-पाश को तोड़कर, उन्हें सुख प्रदान कर देवों के शिरोमणी बन गए हैं या सुदर्शन ने पाप-जाल को तोड़ दिया और सुख प्राप्त कर देवों का शिरोमणि इन्द्र बन गया है। संगति पहले अर्थ की ठीक बैठती है क्योंकि 'तोड़ महाअघ जाल, दियो सुख,' यह अन्वय होता है, यदि जाल के साथ 'दियो' क्रिया लगा कर अन्वय किया तो सुख शब्द निरर्थक रहता है। अतएव नाथ (देवाधिदेव) ऐसा (उपर्युक्त तारणकार्य) करके देव शिरोमणि कहलाए या देव शिरोमणि=देवों का शिरोमणी नाथ=इन्द्र और उनका नाथ+स्वामी+देवाधिदेव कहलाए। कहा भी है-देवाना-मप्याधिदेव देवाधिदेव ।

संगति :— भग० १० श०, ११ उद्दे०

उत्थानिका :— अब प्रस्तुत पद्य द्वारा कवि कतिपय उन उपकारी मुनिराजों तथा सर्वज्ञदेवों का वर्णन करता है जिन्होने निम्न भव्य जीवों का उद्धार किया है :—

छन्द : सवैया

केशिकुमार कहा परदेसि कु, संजतराय रिषी बनवासी,
सैनिक को सुअनाथ महामुनि, विप्रन को हरिकेसि सुभासी।
श्री जयघोष प्रबुद्ध कियो द्विज,-भ्रात मिटाय दई भव फांसी,
श्री जिन श्री जिन के मुनिराज,करे उपगार महासुख रासी।४७

मूलार्थ :— पार्श्व परम्परा के श्रमणपति केशिकुमार ने श्वेताम्बिका नगरी के परदेशी नृप जो निपट भौतिकवादी-नास्तिक था। गर्दभाली ऋषि ने, जो वन में एकान्त तपश्चरण करते थे,

+ कथा प्रसंग परिशिष्ट में

ने कम्पिलपुर के राजा संयति को, महामुनि अनाथी ने मगधाधिप श्रेणिक को तथा उग्र-तपस्वी मुनि हरिकेशी ने याज्ञिक सोमल ब्राह्मण को उपदेश दिया और श्रमण जयघोष ने (अपने पूर्व जन्म के भ्राता) विजय घोष ब्राह्मण को प्रबोध देकर, जागृत कर उसके जन्म--मरण की फांसी परम्परा को नष्ट कर दिया। इस प्रकार देवाधिदेव तथा उनके शिष्य मुनिगण जो महासुख--मोक्षरूप सुख, अनन्त सुख के पुंज हैं अथवा महासुख—मोक्ष-सुख समूह के प्रदान रूप (भव्य जीवों पर) उपकार करते हैं।

विवेचनः—इस पद्य में कवि ने कुछ एक उपकारियों के दृष्टान्त प्रस्तुत कर जिनेन्द्र देव के साथ उनके मुनि, यति और ऋषि भी उपकार करते हैं, स्पष्ट किया है— 'श्री जिनश्रीजिन के मुनिराज, करे उपगार महासुख रासी'। यह समुचित ही है। साधु शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है- "स्व-पर कार्यं साध्नोतीति साधुः" अर्थात् अपने और दूसरे के कार्य को जो साधता है वह साधु है 'पारमार्थिक यतौ' के अनुसार साधु का कार्य है परमार्थ की साधना। अपना कार्य साधु का क्या है ? अपवर्ग-मोक्ष 'साधयति सम्यग्ज्ञानादि योगैरपवर्गमिति साधुः' [दश.१ अ.]। सम्यग्दर्शन, ज्ञान चरित्र के योग से मोक्ष की साधना साधु करता है साथ ही दूसरे को भी करने की तथा करते हुए को सहायता देता है। 'सहायको वा संयमकारिणं सावयतीति वा साधुः' [दशा १. अ.] इस दृष्टि से श्री देवाधिदेव के साथ उनकी धर्म सन्तति भी उपकारक हा होती है।

संगति—उत्तराध्ययन सूत्र, १८-२०, १२-१३ तथा राजप्रश्नीय सूत्र ग्र. [इन उपकारों का विवरण (कथा प्रसंग) परिशिष्ट में पढ़िये।]

उत्थानिका—कवि सर्वज्ञ द्वारा दी गई धर्म देशना के प्रति फल का वर्णन करता है—

छन्द : सवैया

धर्म कथा अति सुन्दर, श्री जिनराज कही सब ही सुख पाया,
के नर-नार लिए नृप चारित के अणुव्रत लई मग आया।
के सम दृष्टि तथा तिरजंच सुश्रावक के समदिष्ट सुहाया,
देव भये भगता अतिमोदत,सब ही भव्य नमी गुण गाया ॥४८

मूलार्थ—(नय-प्रमाण, हेतु तथा दृष्टांत आदि गुणों से युत) धर्म कथा का जिनेश्वरदेव ने कथन किया है जिसे सुनकर (देव-मनुष्य-तिर्यञ्च) सभी प्रकार के जीवों ने सुख का अनुभव किया है तथा कई नर-नारियों ने सर्व विरति – श्रमण चारित्र को, तो कई एक गृहस्थ धर्म–श्रावक चारित्र को ग्रहण कर धर्म मार्ग में आये हैं और कई मिथ्यादृष्टि से सम्यग् दृष्टिवाले बन गये हैं। कितने ही तिर्यञ्च— पशु-पक्षी भी समदृष्टि एवं व्रती श्रावक बनकर शोभित हुए। जिनेश्वर देव की इस हृदयरंजक वाणी को सुन देवगण भी भक्त बन गये और परमहर्ष का अनुभव करते तथा सर्व भव्य जीव प्रसन्न हो, नम्रतापूर्वक उज्ज्वल गुणों का वर्णन करते हैं, किया है।

विवेचनः— देवाधिदेव की अमोघ वाणी को सुनकर श्रोता अपनी जीवन दशा में किस प्रकार परिवर्तन ले आते हैं और उनकी वाणी में कैसी अनूठी शक्ति होती है यह बतलाना ही कवि का उद्देश्य है। शास्त्रकारों ने भी श्रवण परम्परा को अत्यन्त लाभदायक बतलाया है। यह ज्ञान प्राप्ति एवं वृद्धि का कारण है–

'सोच्चा जाणइ कल्लांण, सोच्चा जाणइ पावगं' तथा
'श्रुत्वा धर्मं विजानाति, श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम्'

जीव के ज्ञान प्राप्ति के दो उपाय ही दृष्टिगत होते हैं–श्रवण और पठन। पहला सर्वोपयोगी है जबकि दूसरे (पठन) के लिए

साक्षर होना अनिवार्य है। श्रवण बोल-चाल की भाषा में भी ज्ञान प्रदान करता है। पंजाबी लोक भाषा में एक कहावत है 'सुण २ अन्हे पवें राह' अर्थात् सुन २ कर अन्धा मनुष्य भी अभीष्ट (ज्ञान) को प्राप्त कर लेता है। इस सम्बन्ध में ज्ञानी गौतम तथा भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर भी दृष्टव्य हैं–

प्र० भन्ते ! श्रवण से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?
उ० गौतम ! श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है।
प्र० भन्ते ! ज्ञान से किस फल की प्राप्ति होती है ?
उ० ज्ञान से विज्ञान (विशेष ज्ञान) की उपलब्धि होती है +

टिप्पणी:—सर्वविरति-देशविरतिः–अहिंसा आदि व्रतों का पूर्ण रूप में पालन एवं धारण करना महाव्रत या सर्व विरति चारित कहलाता है। इसका धारक साधु, ऋषि या श्रमण कहलाता है। तथा अहिंसा आदि से सर्वथा विरत-अलग न होकर देश–अंश रूप से अलग होना देशविरत चारित है जिसे गृहस्थ धारण करता है, अणु से अभिप्राय छोटे व्रत, अर्थात् अहिंसा आदि व्रतों का पूर्ण रूप से धारण न कर अंश रूप में करना।

सम्यग्दृष्टि– समदिष्ट– समदृष्टि (Right understanding power) समदिष्ट– समदृष्टि, सम्यग् दृष्टि वाला। प्राणी की तत्त्व के प्रति यथार्थ दृष्टि सम्यग्दृष्टि है। राग और द्वेष का शमन करते हुए मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थ या परिस्थिति में सम मन रहना समदृष्टि है।

उत्थानिक—प्रस्तुत पद्य में गुणाकर देवाधिदेव ने प्रसन्न हुए देव समवसरण में आकर मनोहारी दृश्य उपस्थित करते हैं यदि बतलाता है–

+ भगवती० २।५।१२१

छन्द : सवैया

भक्ति करे सुरराज महापट, नाटक गीत बजंत्र बजावे,
अद्भुत हास सिंगार महारस, शोभत है करूणा रस पावे ।
वीर महारस साथ सजे रस, ×शान्ति महारस के ढिग आवे,
धर्म समोसरणे अति मोद, महा निजरा जिनराज बतावे।४६।

मूलार्थ :— समवसरण में देवाधिदेव के दर्शनार्थ आये देव-राज इन्द्र (एवं सामान्य देव) तीन योग से भक्ति करते हैं तथा प्रसन्न होकर महापट, वाद्य यन्त्र आदि बजाते हैं, नृत्य करते हैं षट् राग व छत्तीस रागिनी युक्त अनूठे गीतों को गाते हैं जिसमे अद्भुत, हास्य तथा महारस शृंगार और करूणारस उत्पन्न होता है तो कभी रसराज वीर एवं शान्त रस प्रकट होता है जो श्रोताओं का मन आकर्षित एवं रंजित करता है। इस प्रकार धर्म--समवसरण में देवों द्वारा नृत्य--गान के प्रस्तुत करने पर अत्यधिक आनन्द का वातावरण होता है तथा श्रोतागण मन्त्र-मुग्ध होकर उस आयोजन को देखता है तो उनकी निर्जरा होती है ऐसा जिनेश्वर ने कहा है।

विवेचन :— देवराज इन्द्र आदि आकर समवसरण में उप-स्थित परिषद् को भगवान के आगे इच्छा प्रकट कर नाटक आदि दिखाते हैं। उस नृत्य और गान में नव प्रकार के रसों का प्रादुर्भाव होता है जिन्हें देखकर-सुनकर जीव अद्भुत एवं अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं। उन दर्शकों की आत्म-निर्जरा ही होता है कर्म-बन्ध नहीं। शास्त्र में विधान है कि शब्द गन्ध-रस--रूप तथा स्पर्श का राग--द्वेष युक्त उपभोग कर्म बन्ध-का कारण है. किन्तु यहां इसका निषेध किया है, क्योंकि प्रथम

+"संत समोसरणे ढिग" इत्यपि पाठः दृश्यते ।

तो यह कि उक्त धर्म समवसरण में अश्लील नृत्य--गान का प्रदर्शन नहीं होता है और न हो दर्शक कुत्सित भावों से देखते हो हैं उस समय दर्शक आश्चर्य मिश्रित भावानुभूति से देवों के अभिनय से जिनेन्द्र वंदन--स्तुति देखते, सुनते हैं और मानव ऋद्धि की तुलना देवर्धि से करते हैं और उस ऋद्धि से अपने को तुच्छ समझते हुए मनुष भोगों से विरक्त होते हैं और देव जीवन की क़ामना करते है किन्तु सर्वज्ञ देव की पुद्गल परिणाम, नश्वरतादि की ज्ञानमयी वाणी सुनते हैं तो प्रत्येक पुद्गल को विभाव परिणति मानकर सर्वथा संवेग--जन्म-मरण की भीति वैराग्य तथा निर्वेद--विषयों से विरक्ति युक्त हो जाते हैं। अतः देवों का नृत्य और गान कर्म बन्ध का कारण न मानकर निर्जरा का द्योतक है।

दूसरो बात उनके द्वारा किया गया नृत्यादि का आयोजन एक प्रभावना का रूप है तथा देवों का यह परम्परागत व्यवहार है। जिसे देखकर जन साधारण आश्चर्यान्वित होकर प्रभावित होते हैं और सर्वज्ञ वाणी की ओर आकर्षित होते हुए अहिंसा, सत्य एवं तप रूप धर्म के श्रद्धालु तथा ग्रहण करने वाले वन जाते हैं अतः यह कर्म वन्धक नहीं है।

आगे प्रसंग में सविस्तार बताया जायेगा कि वे देव किस प्रकार का नृत्य करते हैं।

उत्थानिका :— निम्न पद्य में भगवान के गुणों का वर्णन करते हुए कवि वंदना करता है :—

छन्द : दोहा

सकल जगत पर थाल प्रभु, शुक्ल ध्यान भगवंत।
वंदो श्री जिन पर्मगुरू, जिह ढिग करूणा संत॥ ५० ॥

मूलार्थ :— देवाधिदेव सम्पूर्ण जगत पर दया करते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ ध्यान शुक्ल ध्यान से युक्त हैं तथा जिनके पास करूणा-अनुकम्पा एवं शांति गुण (अथवा संत पुरुष) निवास करते हैं ऐसे परम गुरु जिनेन्द्र देव को मैं वंदना करता हूं।

विवेचना :— प्राणी जगत् के नाथ होने के कारण अरिहंत देव चर-अचर सभी पर दयाभाव रखते हैं अतः दयालु हैं। चार प्रकार के ध्यान–मन की चिन्तना है आर्त्त, रौद्र तथा धर्म और शुक्ल। इसमें प्रथम के दो अशुभ हैं, कर्म के बन्धक हैं आत्म मलीनता के कारण है। धर्म ध्यान–जड़–चेतन का भेद तथा संवेग--निर्वेद का कारण ही है जो कषायों के रहते हुए संभव है। प्राय : मुनि आदि धर्मध्यान का अवलम्बन लेते हैं किन्तु कैवल्य-ज्ञान से युक्त सर्वज्ञदेव का ध्यान शुक्ल ध्यान कहलाता है। कषाय के सर्वथा अभाव तथा योगों के निरोध होने के कारण अशुभ कर्म की तो बात ही क्या शुभ कर्मों का भी बन्धन नहीं होता। केवल इर्यापथिकी क्रिया ही लगती है, वह भी प्रथम समय, दूसरे समय वेदी जाती है और तीसरे समय उसकी निर्जरा हो जाती है यही जीवन की पूर्णता का द्योतक है अतः इन्हें परम गुरु कहा गया है।

गुरु से तात्पर्य मार्गदर्शक से है। किन्तु मार्ग दर्शक भी कई प्रकार के हैं—अध्यात्म–मार्ग दर्शकत था भौतिक-मार्ग दर्शक। हां तो देवाधिदेव अध्यात्म मार्ग के निर्देशक है न कि भौतिक मार्ग के। इनके द्वारा किया गया मार्ग दर्शन जीवन को जन्मान्तर के संकटों से सर्वथा एवं सर्वदा के लिए मुक्त कर देता है अतः शास्त्र में भी सर्वज्ञ के लिए जीवों को जो मोक्ष मार्ग से विमुख है मार्ग बतलाने वाले होने के कारण 'मग्गदए' कहा गया है। अतः ये ही परमगुरु हैं। इनके समीप ही करुणा और शांति का वास है।

कवि का तात्पर्य परमगुरु की परिभाषा-लक्षण बतना है कि जिस मार्ग दर्शक के पास पूर्ण करुणा और शांति गुण हो, शुक्ल ध्यान हो, वही परमगुरु होता है तथा आत्मा की भी यह परमावस्था है।

उत्थानिका—'ये देव आदि ऐसा क्यों करते हैं ? इसके पीछे किसी की प्रेरणा है अथवा सर्वज्ञ ऐसा चाहते हैं' निम्न पद्य में कवि ने स्पष्ट किया है—

छन्द : दोहा

आदि अनादी रीत सुर, करे भक्ति×उच्छाह।
राग-द्वेष ते रहित प्रभु, सर्व द्रव्य अनचाह ॥५१॥

मूलार्थ—(देवों द्वारा समवसरण में आकर नृत्य-गान करना) भक्ति उत्सव करना, देवों का यह अनादि की रीति है अर्थात् पूर्व रीत्यानुसार ही सर्वज्ञ देव के पास आकर गान आदि द्वारा भक्ति उत्सव मनाते हैं। किन्तु वीतराग सर्वज्ञ देवाधिदेव राग-द्वेष कर्म बीज से सर्वथा रहित हैं अतः उनका प्रत्येक द्रव्य से निस्पृह भाव है—निर्लिप्त रहते हैं।

विवेचन—तीर्थङ्कर देव जब भूतल पर प्राणियों के उद्धार के लिए विचरण करते है उस समय देवगण पूर्व परम्परानुसार तथा उनकी उत्कर्षता को देखकर पुलकित होकर समवसरण आदि का आयोजन करते हैं जिससे उनकी महिमा अत्यधिक दिग्व्यापनी हो जाय। यहां प्रश्न उठता है कि यह सब किसकी प्रेरणा से होता है और क्या तीर्थङ्कर देव इसके लिए इच्छुक होते हैं ?

उत्तर में कवि ने बताया है कि यह सब अतिशय द्योतक क्रियाएँ देवों का जीतव्य व्यवहार है। +अन्य किसी की प्रेरणा से नहीं, अनन्त काल से ऐसा होता आया है। इसका कोई प्रेरक

× 'उत्साहि' +पोराणमेयं देवा, जीयमेयं देवा, कच्चमेयं देवा, करणिज्जमेयं देवा, आचिण्णमेयं देवा। —राज प्रश्नीय, देवाधिकार

नहीं बल्कि मानसिक वृतियां स्वयं ही महानता के आगे नत होकर प्रशंसा-स्तुति के लिए कार्य करने की प्रेरणा देती है और तीर्थङ्कर इससे सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं क्योंकि स्वप्रशंसा की भावना का आधार मोह कर्म है, इसका यहां सर्वथा अभाव है अतः तृष्णा. इच्छा, व्यामोह, प्रतिष्ठा भाव आदि का भी अभाव है और यह सब अलपज्ञों में ही संभव हैं सर्वज्ञ में नहीं। अतः आज के धर्म-नायकों की भांति स्वप्रतिष्ठा की भूख को शांत करने के लिए नाना मिथ्या एवं स्वरचित्त प्रदर्शन की इन्हें आवश्यकता नहीं रहती।

आगम में उल्लेख है कि देवराज इन्द्र आकर आज्ञा लेता है-'स्वामिन्! उपस्थित परिषद् को (गोतामादि श्रमणों को) दिव्य देवर्द्धि, दिव्य द्युति. वत्तीस प्रकार के नाटक आदि दिखलादूं ?' ‡ किन्तु सर्वज्ञ देव मौन ही साधे रहते है। + वे किसी प्रकार की कृत-कारित-अनुमोदना का आश्रय नहीं लेते। इन्द्र प्रदर्शन प्रारम्भ कर देता है। पर ऐसा क्यों? यह इसलिए कि आज्ञा देने में आरम्भ क्रिया का आगमन है और निषेध करने में प्रभावना का अन्त होना है। जिन शासन की ओर उदय हुई रुची नष्ट हो सकती है अतः यह आडम्बर नहीं एक प्रकार से मानव की मानसिक वृत्तियों की धार्मिकता की ओर आकर्षित करने का उपाय है।

उत्थानिकाः—ग्रन्थकार देवाधिदेव की भक्ति फल का प्रतिपादन करता हैः—

---

‡ इच्छामिणं! देवाणुप्पियाणं भत्ति पुव्वगं गोयम माइयाणं समणाणं णिग्गंथाणं दिव्वं देवड्ढि वत्तीसइ वद्ध नट्ट विहिं उवदंसित्तए ?

+ ततेणं समणे भगवं.................देवेणं एवं वुत्ते समाणे सूरियाभस्स देवस्स एयमट्ठं नो माढ़ाई नो परियाणाति, तुसिणीए संचिट्ठति।'

छन्द : सवैया

भवजन पावे भक्ति फल, अघक्षय सुकृत बंध ।
इह भव-परभव सुख लहें, जगे बोध मिट अंध ॥५२॥

मूलार्थ – देवाधिदेव की भक्ति का भव्य जन निम्न सुन्दर फल प्राप्त करते हैः–

अशुभ कर्म—पाप कर्म का नाश, शुभकर्म–पुन्य का बन्ध तथा इस जीवन में और परभव–अगले जन्म में सुख को प्राप्त करता है, उनका ज्ञान जागृत होता है तो अज्ञान रूप अन्धकार नष्ट होता है ।

विवेचनः – देवाधिदेव की भक्ति के पांच फल बतलाये हैः– पाप कर्म का नाश, पुण्य कर्म का बन्ध, एहिक और पारभाविक सुख की प्राप्ति, तथा विवेक–ज्ञान का विकास और अज्ञान का ह्रास । उक्त पांच महाफलों की प्राप्ति भक्ति कर्म की एक अपूर्व देन है । शास्त्रकारों ने भी बतलाया है कि अरिहंत, सिद्ध भगवान, आचार्य, आदि दिव्यात्माओं के गुणगान, सेवा भक्ति करते हुए यदि उत्कृष्ट रस आ जाय तो जन्म-जन्मान्तर के कर्मों को नष्ट करता हुआ जीव तीर्थंकर गोत्र नाम कर्म का उपार्जन कर लेता है ।*

वाणी द्वारा गुणज्ञों के गुणों का संकीर्त्तन-प्रशंसा एवं आदर सूचक शब्दों का उच्चारण वचन सेवा है।

काया द्वारा आहार आदि कल्प्य पदार्थों का देना अथवा शिक्षा ग्रहण करने, आगम ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना, सदा उनके चरणों में रहना काय सेवा है।

अर्थात् इन मन आदि तीनों से अशुभ योगों का संवरण होता है, शुभ प्रवृत्ति होती है। और जीवन तद्वत् आचरण शील हो जाता है। ठीक भी है कि उत्तमों 'उत्तमानां प्रसगेन कस्यनोन्नति कारकः' की संगति मे किसने उन्नति नहीं की।

उत्थानिकाः—निम्न पद्य मे कवि स्वर्ग तथा मोक्ष के उपाय का निरूपण करता हुआ प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण का कारण बतलाता है—

छन्द : दोहा

भक्ति-ज्ञान विध भांत सूं, लहै स्वर्ग शिव खेत।
तिह कारण रचणा रची, निज आतम के हेत ॥५३॥

मूलार्थः—जीव देवाधिदेव की भक्ति और। आत्मा ज्ञान इन दोनों साधनों से स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त करता है। इसीलिए (मैंने) आत्मसिद्धि के लिए इस रचना (प्रस्तुत ग्रन्थ) की रचना की है।

विवेचन-—कवि ने अपनी रचना का मुख्य कारण आत्मसिद्धि बतलाया है, क्यों की जीव भक्ति और ज्ञान द्वारा स्वर्ग एवं मोक्ष को प्राप्त करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ देवाधिदेव के गुणों का परिचायक तो है ही तथा तत्वज्ञान का भी प्रतीक है। जैनाचार्यों ने "ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः" कहकर मुक्ति के मार्ग का विधान किया है। कवि ने अपनी रचना का उद्देश्य बतलाते

विज्जा. चरणपमोक्ख-सूत्र १२।१।-

हुए उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। सांख्य आदि अन्य दर्शन केवल ज्ञान को ही मुक्ति का कारण मनाते हैं। + जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया दोनों को मोक्ष का कारण मानता है। इसका कारण है कि ज्ञान तो मात्र वस्तु का प्रकाशक है अतः प्रकाश मात्र है "स्व-पर प्रकाशनं ज्ञानम्।" वस्तु स्वरूप का ज्ञान हो जाने से ही कार्य सिद्धि नहीं हो जाती जब तक कि हेय और ज्ञेय क्रिया नहीं हो जाती अतः सर्वप्रथम ज्ञान द्वारा वस्तु स्वरूप का ज्ञान करे, दर्शन के द्वारा श्रद्धान-विश्वास, चरित्र, से निग्रह और तप द्वारा अशुभ का जोषण करे। ‡ किन्तु ज्ञान को यहां भी प्रथमता दी है अन्यथा ज्ञान के अभाव में क्रिया व्यर्थ है यानि सम्यग्चारित्र नहीं होता "नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा" पर ऐसा नहीं कि अकेली भक्ति हा या अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है बल्कि "भक्ति-ज्ञान विवभांत सुं" से हो मोक्ष प्राप्ति है।

कवि ने देवाधिदेव के गुण कीर्त्तन रूप भक्ति तथा ज्ञान युक्त उपासना करके आत्म-सिद्धि की कामना की है।

उत्थानिका—आत्म–कल्याण के हेतु देवाधिदेव के चरणों में देवगण किस प्रकार आता है और धर्मदेशना का लाभ लेता है—

छन्द : मतगयंद

श्री जिन देव मुनीस कि दंसण, आवत देवपती हरषाई,
सुन्दर यान-विमान विषे चढ़, साथ सभी परिवार सजाई।
तीन प्रदक्षण दे चरणी नमि धर्मकथा सुन प्रीत लगाई,
फेर नमे कर जोड़, रचे वर नाटक गीत महा चतुराई।५४।

+ "ज्ञानेन चारवर्गो ... ऋतेच ज्ञानम् ..."

‡ नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेणनिगिण्हाइ तेवण परिज्झुसइ। —उत्त. २८.

मूलार्थ—मुनियों ईश—अधिपति जिनेन्द्रदेव के दर्शन करने के लिए देवेन्द्र सुन्दर विमान की सवारी पर सपरिवार हर्षित होकर आते हैं। वहां समवसरण में आकर तीन प्रदक्षिणा— आर्वत दे चरणों में नत होकर फिर सर्वज्ञ देव की धर्म कथा सुनने में लीन हो जाते हैं। फिर (धर्म कथा की समाप्ति पर) करबद्ध हो प्रणाम कर श्रेष्ठ नाटक-गीत आदि का चतुराई से अभिनय करते हैं।※

विवेचन :—देवेन्द्र अपने परिवार सहित वस्त्राभूषण आदि से सुसज्जित होकर अपनी ऋद्धि का प्रदर्शन करता हुआ मुदित मन से समवसरण में देवाधिदेव के पास आता है धर्म व्याख्यान सुनता है तथा नृत्य-गान का आयोजन करता है। विशेष वर्णन आगे पढ़िये। आचार्य मानतुंग का यह कथन पूर्णतया सत्य ही है कि 'प्रभो ! तुम्हारी भक्ति ही मेरे मुखरी होने में मुख्य कारण है, अन्यथा मैं तो विद्वद्वरों का उपहास स्थान हूँ' तो ऊर्ध्व लोक-वासी देवों का मर्त्यलोक में आगमन देवाधिदेव की भक्ति का ही प्रतीक है और वे कितने महान् हैं इससे अनुमान लगाया जा सकता है।

टिप्पणी :—प्रदक्षिणा : पूज्य के आगे अंजलिबद्ध हाथों को दक्षिण (दांयी) की ओर से उत्तर की (बांयी) ओर लेजा कर वन्दन क्रिया करना (आरती की तरह) प्रदक्षिणा है।

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य द्वारा बतलाया गया है कि आये हुए वे देवराज इन्द्रादि कैसे शोभित हो रहे हैं —

※ संगति—देखिए राय प्रश्नीय सूत्र, देवाधिकार ३२-४३

सोहे रस शांत शांत रूपी चित,चित्त जिनवर के माहि वसै,
जय-जय जिन चंद-चंद त्रिभुवन के,त्रिभुवन केवलज्ञान लसे।।

मूलार्थ—रौद्ररस को छोड़ शेष वीर आदि आठ रस अपने अपने रूप स्वरूप रसराज शांत रस के साथ भगवान के निकट शोभित हो रहा है × देवराज इन्द्र आकर नृत्य-गान आदि का आयोजन करता हुआ सर्व कार्यों की सिद्धि के लिए चरणों का स्पर्श कर बार बार नमस्कार करता है। ये इन्द्र आदि भी शांति युक्त है तथा इनका शांत चित्त जिनेश्वर में लगा हुआ है।।७२।।

हे जिनचंद्र ! आप तीन लोक के चन्द्र हो, आपका ज्ञान तीन लोक में दिप्त हो रहा है।

विवेचन :—प्रस्तुत छन्द में कवि ने इन्द्र, देव आदि द्वारा आयोजित गीत-संगीत, नृत्य तथा नाटक अभिनय से उत्पन्न आठ रसों का उल्लेख किया है, और उसमें भी रसराज शान्त रस का।

साहित्य में नौ और किसी मत से दश रसों विधान मिलता है। अनुभाव तथा संचारी भाव हैं।

देवाधिदेव, अभिनेता, दर्शक तीनों के मन में शान्ति का प्रमुख भाव है शेष भाव गौण रूप से विद्यमान हैं, जब अभिनेता देव अभिनय करते हैं तो उस भावानुभूति से दर्शकों के हृदय में एक रस की उत्पत्ति होती है वह रस भाव की मुख्यता पर है, और वहां मुख्य भाव शांति है अतः रसराज शान्त रस उत्पन्न होता है शेष इसके आश्रित रहते हैं। प्रार्थना करते करण, गुण वर्णन में अद्भुत तथा शरीर–अंग–उपांग (नख-शिख) का कथन करते

×न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छाः।
रसस्तु शान्त कथिता मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावषु शम प्रधान ॥

मदिरा की भांति है, जिस प्रकार मदिरा पान करने पर व्यक्ति विवेक विकल हो जाता है और उसे किसी प्रकार का भान नहीं रहता, उसी प्रकार मोह कर्म के उदय होने पर जीव सम्यक्त्व और चरित्र के अभाव में निरन्तर भ्रमशील तथा विरति रहित रहता है। वस्तु का सम्यक् स्वरूप उसे मालूम नहीं पड़ता। निरन्तर मिथ्या-क्रिया में रत रहता हुआ कर्म बन्धन में लिपटता और जन्म मरण करता रहता है क्योंकि यह सम्यक्त्व और चारित्र का आवरक है।

किन्तु सर्वज्ञ देव ने इस कर्म को और उसकी परम्परा को सर्वथा और सर्वदा के लिए नष्ट कर दिया है। इसके अभाव में लोभ तृष्णा आदि एवं जन्म—मरण के दुख भी नष्ट हो गये हैं वे इतने निस्पृह एवं अकिञ्चन हो गये हैं कि शरीर के सारे उपकरण भी दूर हटा दिये हैं और यहां तक कि देह का ममत्व भी छोड़ दिया है। तथा निर्बाध गति से मोक्ष मार्ग में गमन कर रहे हैं। +

उत्थानिका :—उक्त गुण से युक्त जीवनमुक्त देवाधिदेव के पास देवराज आदि आकर रचना रचते हैं और वंदना का कार्य सिद्धि करते हैं। निम्न पद्य में पढ़िए :—

छन्द : सिंहावलोकन

आठो रस रूप रूप अपने सु, शांत रसेश्वर पास रमें,
साधे सब काज राज रचणारच, पाय लाग बहुवार नमें।

+ "दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा,
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।
"कम्मं च जाइ मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई मरणं वयन्ति'
—उत्तराध्ययन ३२

शृंगार रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार देवाधिदेव के उपसर्ग सहन, परिसह विजय का सुन्दर वर्णन वीररस उत्पन्न करता है।

इस प्रकार गीत, संगीत, नृत्य और नाटक के अभिनय प्रदर्शन में आठों रसों की उत्पत्ति मानी गई है। इस में रौद्र-रस का परिहार है क्योंकि वह हिंसा व क्रूरता प्रधान है।

उत्थानिका—निम्न पद्य में कवि देवाधिदेव के अन्तः बल की भूरि २ प्रशंसा करता, उनके, गुणों के वर्णन की दुशक्यता प्रकट करता हुआ जन्म २ में वंदना और करुणा की कामना करता है—

छन्दः पूर्ववत्

तुम सम नहीं सूर सूर रिपु-मर्दन, हरि हरि विधना‡ हारे भये,
तव गुण गण गणतगणक लिख,लेखक थकत शेष गुरु कौन भये
हे* प्रभु! जगदीश दीश-निश वंदों वंदों भव २ श्रीधर जी,
जय जय जिनदेव देव देवन के कर+करुणा२कर जी ॥७३॥

मूलार्थ—देव! तुम्हारे समान अन्य कोई शूरवीर शत्रुओं का दमन करने वाला नहीं है, शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा जैसे अनेकों देव भी हार गये हैं।

आपके गुण-समूह को गिनते हुए गणक-गिनने वाले और लिखते हुए लेखक—बृहस्पति भी थक गये हैं तो फिर अन्य कौन गिन सकता है। कोई नहीं?

हे प्रभो! हे जगत के स्वामी! मैं रात-दिन वंदन करता हूं तथा हे ज्ञान आदि लक्ष्मी के धर्ता अथवा सीमंधर जी! जन्म जन्म में तुम्हें मेरा नमस्कार हो।

---

‡ 'होरे' *'हैं' पाठ० +"करणा २'—पाठान्तर

हे देवों के देव ! तुम्हारी जय हो, हे करुणाकरण ! मेरे पर करुणा करो ।

विवेचन—जगती तल पर अनेक प्रकार की वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी अपनी एक आकृति, सत्ता तथा शक्ति है। चेतन की भी यही स्थिति है। उसका शरीर बल परिमित हैं पर आत्म-बल जो आगम भाषा में वीर्य कहलाता है, अपरिमित, असीम होता है। यह सत्ता स्वरूप है। किसी में यह शक्ति मन्द, मन्दतर तो किसी में तीव्र, तीव्रतर एवं तीव्रतम (सम्पूर्ण) रूप में जाग्रत होती है। जितनी २ आत्म-शक्ति उद्‌बुद्ध होती है उतनी २ आत्मा स्व परिणति में स्थित रहता हुआ क्रोधादि कषाय, विकार, वासना, कर्म आदि विभाव परिणति को जो आत्म-गुण, स्वभाव को ढांपने वाले आवरण रूप हैं अवरोधक हैं, शत्रु रूप हैं, दूर कर देता है। इस परिहार में शरीरबल ही अपेक्षित नहीं है। शरीरादि बल से बाह्य शत्रु पराजित हो सकते हैं, आभ्यन्तर रिपुओं को आत्म-बल से ही दूर भगाया जा सा सकेगा। अतः वही शूर वीर है सही अर्थों में आत्म-शत्रुओं का दमन करके निज स्वरूप में लीन होता है।

देवाधिदेव के लिए उक्त पद्य में "तुम सम नहीं सूर, सूर रिपुमर्दन" शब्द का प्रयोग किया है। सूर का अर्थ है "विक्रान्त भट" अतिशय बलवान, पराक्रमीयोद्धा। अर्थात् शत्रुओं का दलन करने वाला व्यक्ति 'शूर' है। तीर्थङ्कर देव शरीर तथा आत्म शक्ति दोनों में ही बलिष्ठ हैं और उन कर्म-शत्रुओं का दलन किया है जिनका हरि-हर देव भी न कर सके वे कर्म-प्रारब्ध और आरब्ध के वशीभूत हो गये। देवाधिदेव उन्हें जीत कर जिन हो गये। "रागादि जेतृत्वाज्जिनः।" आवरण के दूर होते ही आत्म स्वरूप, अनन्त चैतन्य प्रतिभासित हो जाता है। फिर

उसकी एक एक विशेषता किस प्रकार गणना एवं लेखन में आसकेगी। वहां तो देवगुरु वृहस्पति एवं सरस्वती देवी की भी पहुँच न रही ? ÷ अतः कवि अपने लिए भव २ में वंदन तथा अनुग्रह की अभिलाषा व्यक्त करता है।

अर्थात् पर्वत सदृश काजल (स्याही) की राशि, सागर परिमाण पात्र में हो, कल्पवृक्ष की शाखाएँ लेखनी हो तथा पृथ्वी का कागज हो और उससे सरस्वती सदा काल लिखती रहे तो भी हे ईश ! तुम्हारे गुणों का पार नहीं पाया जा सकता।

आगम में चार प्रकार के 'शूर' पुरुषों का वर्णन है—क्षमा शूर, तप शूर दान शूर और युद्ध शूर। क्षमाशूर अरिहंत, तप शूरअणगार, दानशूर वैश्रमण तथा युद्ध शूर वासुदेव। उक्त शूरों में क्षमाशूर (देवाधिदेव) ही श्रेष्ठ हैं जो अन्तः-बाह्य शत्रुओं को जीत कर जिन होगये हैं। क्योंकि वीर पुरुष के लिए क्षमा ही आभूषण हैं, तथा वीर क्षमा सहित ही शोभित होता है।'+ अन्त में जिनेश्वर देव को 'करुणाकर' कहकर उनसे 'करुणा' की विनति की गई है। सर्वज्ञ तो हैं ही 'करुणाकर'। उन्होंने जगत की सर्व योनियों के रक्षणार्थ ही अहिंसा भगवती का विधान किया है। इसी कवि ने अपने 'साधुगुणमाला' ग्रन्थ में "करुणा जिन शासन मूल कही, सबही गुण आय मिलें दुर के" का उल्लेख किया है।

+"क्षमा वीरस्य भूषणा" क्षमान्वितं शौर्यं।" "रागादि शत्रुन् जयति वा जिन"।

÷असित गिरि समं स्यात् कज्जलं सिन्धु पात्रे।
सुरतरुवरशाखा, लेखिनी पत्रमुर्वी ॥
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्व कालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में भी कवि ने तीन दृष्टांत देकर भगवान के गुणों को कथन का काठिन्य वतलाया है—

छन्दः सिंहाव लोकन

भगवान सरवज्ञ सर्वदर्शी प्रभु, लोक-अलोक प्रकाश गुणी+
रागादिक कर्म भर्म ते रहिते अगम अगाध अपार सुणी।
घन कन वन पात रात के तारे गिने कौन जग मांहिं गुणी,
महिमा गुण सिंधु सिंधु भव तारो, तवगुण कहि २ थकत मुणी।

मूलार्थ—हे भगवन् ! आप सर्वज्ञ हो, सर्वदर्शी हो, तथा लोक और अलोक में उजेला करने वाले गुणी पुरुष हो। राग-द्वेष व उससे उत्पन्न हुए ज्ञानावरण आदि कर्मों तथा संशयों से आप सर्वथा रहित हैं। इसीलिए अगम और अपार सुने गये हैं। (गुण आपमें विद्यमान हैं जिन्हें गिना भी नहीं जा सकता।) यह ठीक भी है।

बादलों की बूंदे, वन वृक्षों के पत्र, तथा रात्रि के तारों को जगत में कौन गुणी पुरुष गिन सकता है ? कोई भी नहीं।

हे गुण-समुद्र की महिमा वाले ! मुझे भव-सिंधु-संसार-सागर से तारो। तुम्हारे गुणों का कथन करते २ मुनि भी थक गये अर्थात् वे भी उनका पूर्ण कथन न कर सके ॥७४॥

विवेचन—कवि पुनः भगवान के सर्वज्ञ-सर्वज्ञानी तथा सर्व द्रष्टा होने की तथा इस ज्ञान-दर्शन के बल लोकालोकवर्ती, त्रैकालिक जड़-चेतन को हस्तामलकवत् जानने और देखने की बात कहता है। वे राग-द्वेष रूप कर्म बीज को नाशकर वीतराग बन गए हैं अतः ज्ञान आदि कर्म तथा अज्ञान आदि भ्रम से स

+'थूणी'

रहित हैं, और संशय, विभ्रम, विपर्यय ये तीन ज्ञान के दोष हैं। अज्ञान का समूल नाश है वहां वहां ये दोष कैसे रह सकते हैं ऐसे सर्व कर्म विमुक्त सर्वज्ञ अपने अनन्त गुणों के साथ अगम, अगाध, अपार विशेषणों में सुने तथा पुकारे जाते हैं।+

कवि अन्तिम बार पुनः निवेदन करता है— हे गुणासिन्धो! मुझे भव-सागर से पार करदो। आपके इन शुभ्र गुणों का व्याख्यान करते २ मुनी भी थक गये हैं अर्थात् गणना से गुण समाप्त नहीं हो पाये हैं।

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में कवि पुनः जिनदेव के दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करता हुआ कहता है—

छन्दः सिंहावलोकन

निश्चल समदर्शी दर्श तवमूरत- तव पद-पंकज पर्सण को,
श्रावक-मुनि वृंद वृंद शुभधर्मी, धर्मसभा तव दर्शण को।
मेरे मन इच्छ इच्छ पूरो प्रभु, प्रभुता तव परलोक भई,
आपण कर दास दास को दर्शन, देवो मुझ मन चाह कई।७५॥

मूलार्थ—हे निश्चल समदर्शी! आपकी मनोहर मूर्ति के दर्शन को तथा चरण-कमल के स्पर्शन को, मुनि समुदाय, श्रावक समुदाय एवं शुभधर्मी जनों का समुदाय तथा धर्मसभा आपके दर्शनों के लिए आतुर हैं।

+जया से णाणावरणं....दरिसणावरणं सव्वं होइ खयं गयं।
तओ लोगमलोगं च जिणो जाणइ.... पासइ केवली।
पडिमाए विसुद्धाए मोहणिज्जं खयं गए।
असेसं लोगमलोगं च पासेइ सुसमाहिए। —दशा.५।११६-७

हे प्रभो! आपका गौरव तीन लोक में विश्रुत हैं, मेरी भी मनो वांच्छित कामना को आप पूर्ण करें। मुझे अपना चरण-किंकर मानकर इस सेवक को दर्शन दो यही मेरे मन की चाह है।

विवेचन—देवाधिदेव का दर्शन मोह कर्म सर्वथा क्षय हो जाने के कारण दर्शन समदर्शन है अर्थात् अन्तःकरण-प्रवृति, रुचि या तत्व दृष्टि सम्यग् है। अथवा राग-द्वेष के अभाव से सम-भाव के सम स्थित हैं तथा वह निश्चल है, मिश्र मोह कर्म के अभाव में दृढ़ता रहती है। क्योंकि आत्मा के अर्द्ध सत्य तथा दोलायमान परिणाम का उपादान यह कर्म ही है। अतः ऐसे सम-दर्शी प्रभु के जिस के मन में राजा रंक, मनुष्य, पशु, देव, छोटा-बड़ा, पाप-पुण्यात्मा का कोई भेद ही नहीं है, देवाधिदेव दर्शन का साधु वृन्द, श्रावक, धर्मी पुरुष समूह तथा धर्म परिषद् उत्सुक है क्यों हैं? इसके लिए आचार्य मातुंग कहते हैं—'प्रभो! जिस व्यक्ति ने निर्निमेष दृष्टि से एक बार देख लिया है। उस व्यक्ति के नेत्र किसी दूसरे स्थान पर संतोष को प्राप्त नहीं होते। जिस वक्त वह व्यक्ति क्षीर समुद्र के चन्द्रराशि से सेवित मधुर जल को पीकर लवणादि समुद्र के क्षार जल को पीने की इच्छा नहीं करता।' मुझ कवि की भी मनो इच्छा पूर्ण कीजिए। देव आपकी प्रभुता तो परलोक (स्वर्ग, नरक) तक पहुँच हुई है। बस, वह इच्छा एक दर्शन की है! दर्शन मे क्या लाभ है यह पहले आ चुका है। फिर भी—

आगम में उल्लेख है कि तीर्थङ्कर देव के नाम और गोत्र को सुनने से महाफल की प्राप्ति होती है तो उनके दर्शन तथा देशना-श्रवण से कितने महान फल की प्राप्ति होती होगी? इस विचार से राजादि दर्शन के लिए जाते थे।

मोटे तोर पर—दर्शन के तीन लाभ है—

१. दिव्य शरीर सुषमा, मस्तिष्क के तेजः प्रताप से नेत्र तथा मन परितुष्ट एवं प्रफुल्लित हो जाता है।

२. मधुर उपदेश, तथा शिक्षा वचनों की उपलब्धि होती है।

३. आदर्श के क्रियमाण रूप की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। तथा दर्शन, पापनाश, स्वर्ग प्राप्ति, और मोक्ष का साधन होता है।

उत्थानिका :—अब कवि देवाधिदेव के गुणों का गुणानुवाद करने में अपने को असमर्थ पाता है, तो निवेदन करता है —

छन्द : दोहा

लघु बुद्धि कैते कहूं, तुम गुण अमित अनंत,
अंजुलि में केतो गहूं, × जलनिधि जल दृष्टंत ॥७६॥

मूलार्थ :—प्रभो ! आप अपार एवं अनन्त गुणों वाले हो, मैं स्वल्प-मन्द बुद्धि वाला ठहरा, इसलिए उन सबका कैसे वर्णन करूं ? जिस प्रकार सारे समुद्र के जल को अंजलि में (धोवे) में ग्रहण नहीं किया जा सकता है इसी प्रकार मैं (कवि) आपके कितने गुणों का व्याख्यान कर सकता हूं अर्थात् नहीं कर सकता।

विवेचन :—कवि ने समुद्र जल का दृष्टांत देकर यह बतलाने की चेष्टा की है कि देवाधिदेव के गुण समुद्र-जल की तरह गहन एवं अगम होते हैं। जिस प्रकार समुद्र जल का पार नहीं ग्रहण किया जा सकता उसी प्रकार सर्वज्ञ देव अनंत गुण सम्पन्न होते हैं उनके सम्पूर्ण गुणों को जिह्वा एवं लेखनी द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि भक्त का जीवन पूर्ण नहीं होता और अपूर्ण

को पूर्ण का ज्ञान नहीं हो सकता। हां, अपूर्ण पूर्ण का अनुकरण करके अवश्य पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं।

ठीक इससे मिलता-जुलता दृष्टाँत उपस्थित कर आचार्य मानतुंग भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं--हे गुणों के समुद्र ! मनुष्य बुद्धि के विकास में भले ही देवताओं के गुरु वृहस्पति के समान हो, परन्तु क्या वह आपके चन्द्रमा के समान निर्मल अनंत गुणों का वर्णन करने में समर्थ हो सकता है, कभी नहीं। भला वह भीषण महासमुद्र जिसमें प्रलय काल के अंधड़ से विक्षुब्ध हुए हजारों मगर मच्छ उछल रहे हों, कभी भुजाओं से तैरकर पार किया जा सकता है ? कभी नही।"+

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य द्वारा कवि देवाधिदेव को सर्वेसर्वा मानकर दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करता है :—

छन्द : दोहा

तुम माता तुम तात गुरु, साधु * सरण को गम।
दर्शन देवो नाथ जी, श्री सीमंधर स्वाम ॥ ७७ ॥

मूलार्थ—हे देव ! आप माता-पिता, तथा गुरु के तुल्य हो, साधु या शाह के शरण के स्थान हो, हे सीमंधर स्वामी, ! हे नाथ आप दर्शन दीजिए !

विवेचन —भक्ति साहित्य में अनेक प्रकार की भक्तियों का वर्णन मिलता है। संत कबीर, सूरदास, जायसी, मीरां, आनंदघन आदि भक्तों का भले ही उद्देश्य और लक्ष्य एक ही रहा हो पर उपासना भेद के साथ उपास्य स्वरूप भेद भी अवश्य था। जहां सूरदास अपने उपास्य को सखा के रूप में स्वीकार कर उसकी सख्य भक्ति करते हैं वहाँ संत तुलसीदास उपास्य राम को पिता के तुल्य गुरुजन मानते है। मीरां के उपास्य पति रूप में तो जायसी का स्त्री रूप में है। संत कबीर माता, पिता, एवं पति नाना रूपों में उसकी उपासना करते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता हरजसराय अपने आराध्य को प्राणी मात्र पर अनुग्रह शील होने से मातृवत् तथा जीवन के रक्षक होने के नाते पिता की तरह और अज्ञान आदि मिथ्या परिणति से सम्यग् मार्ग का बोध करवाने वाले होने से गुरुवत् स्वीकार करते हैं और उनके दर्शन की महती अभिलाषा व्यक्त करते हैं।

एक अन्यत्र भी भक्त कवि कहता है—

"त्वं माता त्वं पिता देव ! त्वं भ्राता जगदीश ! मे,
भवाम्बुनिधौ पतन्तं मां, पाहि पाहि कृपानिधे ! "

कल्याण मन्दिर स्तोत्र में आचार्य सिद्धसेन भी भगवद् गुणों की गणना के काठिन्य का वर्णन करते हैं।❀

शास्त्रों में भी अनेक उपमाओं तथा संज्ञाओं से सर्वज्ञ देव को उपमित किया है – "मग्गदए, सरणदए, बोहिदए, धम्म नायगे–

❀ अभ्युद्यतो ऽस्मि तव नाथ ! जडाशयोऽपि ? ।
कर्तुं स्तवं लसदसङ्ख्य गुणाकरस्य ?
बालोऽपि किं न निजबाहु युग वितत्य ।
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाऽम्बुराशेः ? —कल्याणमंदिर ५.

सरण-गई-पइट्ठा आदि । प्रणिपात सूत्र (नमोत्थुणं) इसका सुन्दर संग्रह है। क्त पद्य में गुणसम्पन्न देवाधिदेव सीमंधर को सम्बोधित किया है। सीमंधर महाविदेह क्षेत्र के प्रथम विहरमान हैं। कवि द्वारा इनके दर्शन की प्रार्थना में एक कारण है, कि वे तीर्थङ्कर वहां विद्यमान हैं। और भरत क्षेत्र में नहीं है।

पर ऐसा क्यों ? कवि भरत क्षेत्र का वासी है और उसे अपने क्षेत्र के तीर्थङ्कर महावीर आदि को दर्शन की प्रार्थना क्यों नहीं करता ?

उसके ऐसा न करने में एक रहस्य है जो जैनधर्म की उत्तरणवाद की मान्यता की पुष्टि करता है। जैन धर्म क्त आत्मा को पुनः बन्धन में आना स्वीकार नहीं करता। मोक्षावस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है "शिवमयलमरुअमणंतमखयमव्वाबाहमपुणरावित्ति" अतः भरत क्षेत्र के तीर्थङ्कर मुक्त हो चुके हैं और उनकी अविद्यमानता और पुनः अवतार रूप में अवरण न होना, इन दोनों कारणों से उनके दर्शन देने की कामना नहीं की जा सकती। यदि करते हैं तो उन्हें सशरीरी व सकल स्वीकार करना होगा जबकि वे सर्वथा शरीर के मूल कारण कर्म से रहित हैं तो इस सिद्धान्त में बाधा पड़ती है, अतः सीमंधर स्वामी से ही गुण-समुद्र होने पर दर्शन करने की भावना व्यक्त करता है। क्योंकि शुद्धात्मा में, सर्वज्ञ में कोई अन्तर नहीं होता।

दूसरी बात कवि का आशय अर्हद् भाव, जिनत्व तथा तीर्थंकरत्वसे है किसी व्यक्ति से नहीं। उस का दृष्टि में ऋषभ, महावीर, सीमंधर आदि समान ही हैं।

उत्थानिका—निम्न पद्य में उक्त अभिलाषा का कारण बतलाता है—

छन्द : दोहा

भव जल शिवतुर अंतरे, संजोगी धर सीम,
श्री सीमंधर स्वामिजी,+ जहां वसो दस भीम ॥७८॥

मूलार्थ—देव ! जन्म-मरण रूप सागर और शिवपुर-मोक्ष के बीच में आप इन दोनों के संयोगी....जोड़नेवाले पर्वत (हो जांय) अथवा सीमा को धारण करने वाले सीमंधर हो अतः हे सीमधर स्वामी ! जिसमे में निर्भय स्थान में (अनन्त कालतक) भय रहित होकर निवास करूं ।

विवेचन—मनुष्य की आत्मा में जब तक उसकी सुप्त शक्तियां जागृत नहीं हो जाती तब तक वह निर्बल ही रहता है और किसी भी दुष्कर कार्य के लिए दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखता है। किन्तु जब वह सबल हो जाता है तो स्वयं ही क्रियाशील हो जाता है। तो कवि भी अपने को कर्म-मुक्ति के लिए निर्बल ही अनुभव करता है और सर्वज्ञ को साधन बनाकर संसार-समुद्र को पार करने की साधना क्रिया करना चाहता है। जिस प्रकार नदी को पार करने के लिए नाव आदि की आवश्यकता रहती है।

फिर यहां तो भक्ति भाव का प्राचुर्य है। भक्त अपने आपको भगवान के चरणों में सर्वात्मना समर्पण कर चुका है। अन्यथा शास्त्रकारों ने तो आत्मा को ही नाविक, शरीर को नाव और संसार को समुद्र माना है—

सरीर माहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ,
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ।"—उत्त० २३

उक्त पद्य का स्वरूप निम्न रूपक से भली भांति स्पष्ट हो सकेगा:—

+ "जहां वसो, जां वसो" —पाठान्तरे

भक्त इस किनारे पर खड़ा है, भगवान उस पार, बीच में वासना का भयंकर सागर बह रहा है जिसमें आशा-तृष्णा और मोह के भंवर, मान आदि की चट्टाने और क्रोध की बड़वानल है। भक्त खड़ा भगवान को देख रहा है। और उनके समीप जाने की कामना करता है किन्तु बीच मे भयंकर विघ्नों, कठिनाईयों को देख कर भयभीत होता है। उसमें प्रवेश करने के लिए उसका साहस नहीं अतः सहायता का इच्छुक है और भगवान को ही पुकारता हैं'प्रभो! आओ मुझे इसमें से बचाकर अपने समीप निर्बाध अवस्था में ले जाओ।" भगवान उत्तर देते है-मैं नहीं आता, मैंने मार्ग दर्शाया है, मेरे कथानुसार आजाओ सारी कठिनाईयां सुगम होजायेगी।" इस पर एक खड़ा रहता है दूसरा चल पड़ता है यात्रा को बस, जैनधर्म का दूसरा मार्ग है। किन्तु कवि का यह कथन भावातिरेक पूर्ण है। जिन-प्रावचन भगवान को साध्य और साधन दोनों रूप में स्वीकार करता है केवल साधन या साध्य नहीं।

उत्थानिका—प्रस्तुत पद्य में कवि जिनेश्वर देव की अपार कृपा से देव-नर तथा हिंस्र पशु आदि का भय दूर भाग जाता है अर्थात् वे दुख-हारक है बतलाता है :—

छन्दः पूर्ववत्

गज केहर चोर ते, शिख जल वन रण रोग,
व्यंतर मानव दूर भय, सभ ही हर दुख सोग ॥७६॥

मूलार्थ—सर्वज्ञ! सांप हाथी, सिंह आदि हिंस्र जन्तुओं, पर-धन अपहरण कर्ता, तथा+अग्नि, दावानल, जल, भयंकर जंगल, संग्राम और रोग इत्यादि प्राकृतिक दुःख तथा व्यन्तर जाति के देवों एवं मनुष्य कृत शोक समस्त भयों के हर्ता हैं—हरने वाले हैं।

+ अर्थ भेद से "दुर्गम शिखर-पर्वत'

विवेचन—कवि देवाधिदेव प्रार्थना करता है—हे प्रभो ! सांप आदि जन्तुओं, दुष्ट मनुष्यों, देवों तथा प्रकृति के प्रकोप से उत्पन्न हुए मेरे सारे दुःखों एवं शोकों को दूर करो !!" अभिप्रायः यह कि सर्वज्ञ देव के स्मरण से उक्त शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के भय दूर हो जाते हैं जिसे इनका आश्रय है उसे भय कैसे हो सकता है ! कवि के उक्त कथन की संगति भक्तामर स्त्रोत्र के श्लोक से ठीक बैठती है—जो बुद्धिमान मनुष्य आपकी स्तुति करने वाले इस स्तोत्र का भक्ति पूर्वक पाठ करता है, उसका मन्दोमत हाथी, सिह, दावानल, सर्प, युद्ध, समुद्र, जलोदर और कारागार-इन आठ कारणों से उत्पन्न होनेवाला भय, स्वयं ही भयभीत होकर शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है+

उत्थानिका—उक्त कामना के साथ एक और विशिष्ट अभिलाषा भी व्यक्त करता हुआ कहता है मेरा मन तुम्हारे चरणों में ही रत रहे—

छंद : दोहा

निश्चल चित सिद्धांत रस, विघन रहित तव सेव ।
इह भव पर भव धर्म रुचि, रहो मुझे सुण देव ॥८०॥

मूलार्थ—हे देव ! मेरी (विनति) सुनिये, मेरा चंचल मन तुम्हारे चरणों में निश्चल रहे तथा उसे अहिंसादि सिद्धान्त का आनंद मिले और मैं आपकी निर्बाध गति से सेवा करु, मुझे इस

+ मत्त द्विपेन्द्र--मृगराज-दवानलाहि
संग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्यम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमान धीते ।—भक्ता. ४७

जन्म तथा आगामी जन्म में भी धर्म की रुची रहे, (यही कामना है ।)

विवेचन—कवि ने अपने मनोगत भावों को श्री चरणों में, प्रकट करते हुए सर्वज्ञ सिद्धान्त में प्रतिपादित आत्म शुद्धि का मार्ग बतलाया है। चित्त की एकाग्रता साध्य पर निश्चल श्रद्धा, धर्म विचार और इसका आचरण (उपास्य की निर्बाध उपासना) ये आत्म शुद्धि के उपाय हैं। इनके अभाव में कोई व्यक्ति उक्त विघ्नों को पारकर सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

शास्त्रकारों ने बतलाया है :—

"जिण वयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे केरंति भावेणं।
अमला असंकीलिट्ठा ते हुंति परित्त संसारी ॥" —उत्त० ३६

अर्थात् जिन वचनों में अनुरक्त, जिन वचनों के अनुसार आचरण करने वाला, वह मिथ्यात्व आदि मल तथा कषाय आदि संक्लेश रहित, ये संसार से पार होते हैं। यही कारण है कवि के कामना को कि प्रभो! सुख–दुख आदि किसी अवस्था में रहूं मेरा मन सर्वथा आपके चरणों में रहे —।

"तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पद द्वये लीनम्
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्, यावन् निर्वाण–सम्प्राप्ति–देवर..."

कवि चूंकि एक भक्त पुरुष है, नैष्ठिकी व्यक्तिपभोग करते हैं, अपने आराध्य के आगे प्रशस्त भावना को रुग करते, वे तो मोक्ष का वह कभी संकल्प ही नहीं करता। प्रस्स विशेषता के कारण

और यह ठीक भी है। क्योंकि जैसा प्रकाशमान तेज बहुमूल्य रत्नो में मिलता है, वैसा कांच के टुकड़े में कहां है? भले ही वह धूप में पड़ा हुआ सूर्य किरणों से कितना ही क्यों न चमक रहा हो?" × [आगे इक्कीसवां भी द्दष्टव्य है।]

किन्तु भक्तजन आपको क्यों भजते हैं? आत्म-शांति के लिए। 'सेवक सेवत शांति करा को'। अन्य उपास्य की उपासना से स्थायी आत्म शांति की प्राप्ति नहीं होती और हो भी कैसे वहाँ तो भौतिकवाद का बोल वाला है, राग-द्वेष की तीव्रता-मदन्ता है, वर अभिशाप का द्वन्द्व है। यह एक प्राकृतिक नियम है कि गुणों की प्राप्ति के लिए गुणी की उपासना की जाती है, किन्तु जो हो ही निर्गुणी उससे गुण मिलना दुर्लभ है, असंभव है। आत्म शांति, सुख ही स्थायी होता है यह एन्द्रिक सुख नहीं जो शब्द आदि की विद्यमानता में रहता है और अविद्यमानता में नष्ट हो जाता है। वह स्थायी सुख और शांति वीतराग पुरुष में ही जिसने राग, रूप मन के विकार को सर्वथा दूर कर दिया है मिल सकती है अन्य देव-देवियों में नहीं :—

'नहि सुहि देवया देव लोए, नवि सुही पुढवी पइ राया।
नवि सुही सेठ सेणावइ, एगंत सुही मुणि वीयरागी॥'

इस लिए कवि कहता है—प्रभो! कोई भले ही विष्णु आदि देवों, दुर्गा आदि देवियों की उपासना करे पर मैं तो आत्म-शांति के हेतु राग-द्वेष से सर्वथा रहित आप सर्वज्ञ को ही भजता रहूंगा। देव का लक्षण ही राग, द्वेष, स्वार्थ, ममत्व आदि का न होना है।❀

× ज्ञानं यथा त्वयि विभाति........। —भक्ता. २०

❀ यस्य न राग-द्वेषौ, ना पि स्वार्थो ममत्व लेशोवा।
तेनोक्तो यो धर्मः सत्यं पथ्यं हितं मन्ये। —भा० श०

उत्थानिका :—देवाधिदेव के स्मरण, उपासना आदि से होनेवाले परिणाम का कवि कथन करता है —

छन्द : सवैया

दंसन चंदन पूजन सेवन, श्रीजिन देव को मंगल कारी,
कीरति गावन ध्यानलगावन, रूप दिपावन में गुण भारी।
जो नर नार सुने रचना दुख, दोष हरे सुख शांति ÷मभारी,
जैनजवाहर पावत सो जिन, पुन्य किये चित्तलाय अपारी ।८२।

मूलार्थ :— देवाधिदेव के दर्शन, वंदन, पूजन तथा भक्ति करना मंगल कार्य है। उनकी स्तुति का उच्चारण--संकीर्तन, गुण चिन्तन और रूप लावण्य तथा सौंदर्य के वर्णन करने में ज्ञानादि गुणों को प्राप्ति होती है।

जो स्त्री--पुरुष इस देवाधिदेव के गुणों का व्याख्यान करने वाली रचना को सुनेंगे उनके शारीरिक दुख तथा हिंसाकषायादि मानसिक दोष नष्ट होंगे और परम सुख एवं आत्मिक शांति की प्राप्ति होगी

इस वीतराग धर्म को वही प्राप्त कर सकता है जिसने अनन्त पुण्य कार्य किया है।

विवेचन :— वीतराग सर्वज्ञ की उपासना से ज्ञानादिगुणों की प्राप्ति होती है, उनका दर्शन, वंदन, पूजन आदि पापों का नाशक है। उनके गुणों का गान, चिन्तन सम्पूर्ण शारीरिक कष्टों तथा क्रोधादि मानसिक दोषों का शमक है।

÷ भण्डारी---पाठान्तरे

अर्थात् इससे समस्त दुःख-दोष शान्त हो जाते हैं। किन्तु इस मार्ग को वही व्यक्ति प्राप्त करता है जिसने अनंतपुण्य किया हो अन्यथा सम्यग् मार्ग के अभाव में आत्मा इतस्ततः ही भटकते रहते हैं।

इस विषय के कुछ प्रश्नोत्तर आगम एवं इतर साहित्य में भी हैं जो अतीव सजीव तथा सुन्दर हैः — +

प्रश्नः—भगवन् ! वंदन से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तरः—वंदन से नीच गोत्र कर्म नष्ट होता है तथा उच्च गोत्र कर्म का बन्धन होता है। जीव सौभाग्य और आज्ञा फल से निवृत्त होता है, दाक्षिण्य भाव को प्राप्त करता है।

प्रश्नः—चतुर्विंशति स्तव से क्या लाभ है ?

उत्तरः—दर्शन-श्रद्धा की विशुद्धि होती है।

प्रश्नः—स्तव-स्तुति-मंगलाचरण से जीव को किस फल की प्राप्ती होती है ?

उत्तरः—स्तव-स्तुति आदि से ज्ञान-दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होती है तथा इनसे संपन्न जीव अंतक्रिया करके कल्प विमान में उत्पन्न होता है तथा आज्ञा का आराधक होता है।

दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पापनाशनम्,
दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्ष साधनम्।
'एसो पंच णम्मुक्कारो सव्व पावप्पणासणो।'

+ थव-थुइ मंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

थव० नाण-दंसण-चरित्त-बोहि लाभं जणयइ। नाण....लाभ संपन्ने अन्त किरियं कप्प विमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ।....उत्त० २६।१४। चउविसत्थेणं दंसण विसोहिं जणयइ। वंदणेणं नीया गोयं कम्मं खवेइ उच्चा गोयं कम्मं निबंधइ। —उत्त० २६।६।१०

अरिहंत के नमस्कार से जीव सहस्रों भवों से मुक्त हो जाता है। अरिहंत सेवा-भक्ति से तीर्थङ्कर गोत्र कर्म बंधता है।

उत्थानिका:—उपसंहार के रूप में कवि पुनः सर्वज्ञ की उत्कर्षता और अपनी लघुता (अपूर्णता) का कथन करता हुआ कल्याण की प्रार्थना करता है—

छन्द : दोहा

श्री जिनवर गुणनिधि अगम, सुरपति लहे न पार।
नमो नमो जगदीश जी, भव जल पार उतार ॥८३॥

मूलार्थ:—सर्वज्ञ देव गुणों के गहन समुद्र है, देवराज इन्द्र भी उनका पार नहीं पा सकता, फिर मेरी तो बात ही क्या है? अतः हे जगदीश्वर! आपको बार २ नमस्कार हो, हमें संसार समुद्र से पार कर देवें। (आपसे यही विनति है।)

विवेचन:—हे देव! आप गहन गुण समुद्र हैं, देवराज भी उनका पार नहीं पा सका तो फिर मेरी तो औकात ही क्या है?

अन्यत्र आचार्य कहते हैं–

'ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेशः
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः?'

हे नाथ! इसलिए तुम्हें मेरा नमस्कार है, आप कृपया मुझे संसार समुद्र से पार उतार देवें अर्थात् मेरा उद्धार करें, कवि की यही अभिलाषा है।

आचार्य सिद्धसेनदिवाकर भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति में अतीव मार्मिक शब्दों में अन्तर्मन की बात कह जाते हैं—

देवेन्द्रवन्द्य! विदिताखिल वस्तु सार।
संसार तारक! विभो! भुवनाधिनाथ।
त्रायस्वदेव! करुणाहृद मां पुनीहि,
सीदन्तमद्य भयद व्यसनाम्बु राशेः ॥–कल्याण० ४१

उत्थानिका:—प्रस्तुत पद्य में कवि अपने इस ग्रंथ का और इससे होनेवाले फल का वर्णन करता है—

छन्द : दोहा

नव रस रजंत स्तोत्र इह, छन्द अनूपम अर्थ ।
पढ़त सुनत अति हर्ष चित, दिव शिव सर्व समर्थ ॥८४॥

मलार्थ:—प्रस्तुत स्तोत्र शांत आदि नव रसों से रंगा हुआ है इसके छन्द और अर्थ बड़े ही अनोखे हैं जिसे पढ़कर अथवा सुनकर चित्त अत्यन्त प्रसन्न होगा और यह स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त करवाने में समर्थ हैं। (अर्थात् इसे पढ़ने अथवा सुनने से यहां चित्त को प्रसन्नता प्राप्त होगी तथा भविष्य में स्वर्ग अथवा मोक्ष के सर्वसुख प्राप्त होंगे।)

विवेचन:—प्रस्तुत रचना एक गुण संकीर्तन तथा दीर्घ-स्तुति रूप है। कवि ने इसे स्तोत्र की संज्ञा दी है —'नव रस रंजत स्तोत्र इह'। वस्तुतः स्तोत्र संस्कृत भाषा में एक लम्बे चौड़े रूप में पद्यमय गुण-रचना का नाम है यह भी हिन्दी भाषा तथा पद्यमय लम्बी रचना होने स्तोत्र की कोटि में आ गई है।

कवि के कथनानुसार यह रचना शान्त-वीर आदि नवरस, दोहा, मत्तगयंदादि विविध छन्द, तथा विलक्षण अर्थ की प्रतिपादक है। है भी ठीक मंगलाचरण, देवाधिदेव-स्तुति, सवसरण वर्णन, अष्ट-प्रातिहार्य का वर्णन, किस अनुपम कोमल-कान्त पदावलि, सिंहावलोकन जो छन्द, यमकालंकार आदि में हुआ है जिसके पठन एवं श्रवण से व्यक्ति के हृदय में विलक्षण रस की अनुभूति होती है, पाठक या श्रोता पढ़ता-सुनता हुआ तन्मय हो जाता है। और उसके हृदय में भक्ति एवं श्रद्धा की स्फुरणा जाग्रत उठती है।

आगम में भक्ति, स्तुति तथा मंगलाचरण का प्रतिफल ज्ञान, दर्शन-चारित्र गुण की उपलब्धि तथा तीव्र रसानुभूति से कर्मपर्यवों

वार बुधवार को कसूरपुर (कुशपुर) में (कवि) हरजसराय नमस्कार और विनय करता है—हे प्रभो ! मुझे पूर्ण समता का दान दीजिए।

विवेचनः—कवि का यह अन्तिम मंगल है। पुरातन रचना पद्धति में ऐसा रूप रहा है - कार्य के आरम्भ में विघ्न-परिहार हेतु, मध्य में कार्य के गतिमान रहने का तथा अन्त में कार्य की पूर्णता, सफलता के लिए मंगलाचरण होता था। आज प्रायः आदि में ही मंगलाचरण होता है।

कवि कहता है—चतुर्विध संघ के नायक, कल्याण के प्रदाता देवाधिदेव को मुक्ति के लिए पूजिए, ऐसे गुणों के आकर, ज्ञान के सागर की भक्ति करके उत्तम हो जाइए। क्योंकि ये स्वयं उत्तम है और कहा भी है उत्तम की संगति से अधम भी उत्तम हो जाते हैं। "उत्तमानां प्रसंगेन कस्य नोन्नतिकारक"

वि० संवत् १८६०, दिनाङ्क चैत्र प्रतिपदा, बुधवार को कसूर नगर (जि० लाहौर) पंजाब प्रान्त में प्रस्तुत रचना निर्विघ्न रूप में पूर्ण हुई। अतः कवि हरजसराय जैन प्रणाम करते हुए विनति करते हैं—प्रभो ! मुझे पूर्ण समता का दान दीजिए।

कई अर्थकारों का मौखिक मत है कि "सेव नागर" से 'नागर' नामक किसी आचार्य की सेवा करने का संकेत है। हरजसराय को नागर आचार्य के आम्नाय की सम्यकत्व थी। किन्तु ऐसा पट्टावली एवं अन्य किसी प्रमाणों से अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है। दूसरी बात 'हूजिए' क्रिया पद नागर-श्रेष्ठ का फल दर्शक है अतः पूर्व अर्थ ही संगत प्रतीत होता है।

छन्द लक्षण :—हरिगीतिका मात्रिक छन्द है इसमें २८ मात्राएँ तथा १६, १२ पर यति होती है।

परिशिष्ट

शब्द-कोष

३४ अतिशय

३५ वाणी-गुण

अवगाहना

आयु

कथा-प्रसंग

अंतराय=विघ्न, बाधा

आ

आगर=घर, भंडार
आतम के गुण=आतम-गुण ज्ञान, दर्शन
आरज=आर्य, श्रेष्ठ

इ

इच्छ=इच्छा, चाह
ईरवर्त=एरवत नामक एक क्षेत्र

उ

उच्छाह=उत्साह, उत्सव
उत्कृष्ट=अधिक से अधिक
उपांग=एक प्रकार के विशेष शास्त्र
उलसंत=उल्लसित, हर्षित
उवज्झाय=उपाध्याय, एक पद विशेष

ऋ

ऋष चारित=श्रमण-साधुधर्म

ओ

ओडक=अधिक से अधिक
ओडके=ऊंचा

औ

औधि=अवधि, एक प्रकार का मर्यादित आत्म-ज्ञान

क

कच=केश
कन=कण, बूंद
करेण=करना, कराना, करते हुए को अनुमति देना
कलेश=क्लेश, दुख
कवन=कौन
काढ़=निकाल (कर)
कीरत=कीर्ति, कीर्तन
केते=कितने, कई एक
केतक=कितने ही
केतो=कितना
केवल=सम्पूर्ण ज्ञान
केहर=सिंह
कोटि=क्रोड़
कोश=कोष, शब्द-कोश

ख

खेचर=पक्षी, खे=आकाश, चर=चलने वाला
खेत=क्षेत्र, भूमि
क्षेम दायक=कल्याण देने वाले

ग

गहि=ग्रहण कर
गिरा=वाणी
गुणोदधि=गुणों के समुद्र

ग्रिष्ट=ग्राहक, ग्रहण करने वाले
ग्रहूं=ग्रहण करूं
ग्राम=सात स्वरों का समूह

घ

घन=बादल

च

चक्री=चक्रवर्ती राजा
चक्रपति=चक्र का स्वामी वासुदेव
चतुरंग=चार प्रकार की
चमू=सेना
चरण=एक क्रिया विशेष
चारण=एक शक्ति विशेष और उसके धारक मुनि

ज

जई=जयी, जीतकर
जघन=जघन्य, कमसे कम
जात=जाति
जासु=जिसको
जिय=जीव, प्राणी
जिह=जहां, जिस
जिह=जिसके, जो
जीवन की=जीवों की
जुगला=युगल, अकर्म भूमि के मनुष्य

+जोजन=योजन, एक परिमाण
जंत्र=यन्त्र-वीणा आदि

झ

झषकेतु=कामदेव
झालर=घड़ियाल, झांझ

ट

टोहे=टोहना, ढूंढना

ठ

ठवे=रहता है, रहे

ड

ढ

ढिग=पास, समीप

त

तापर=उसपर
✽ताल=संगीत की क्रिया विशेष
तालिका=मंजीरा, झांझ, ताली ताड़ी
तिरजंच=तिर्यञ्च, पशु-पक्षी आदि

+ चार कोष का एक योजन होता है
✽ नृत्य और संगीत में उसके काल और क्रिया का परिमाण जिसे बीच बीच में हाथ पर मार कर सूचित करते हैं।

विह=उस (में)
तुरी=तूती, तुरही
तेजस लेस=तेजो लेश्या, एक प्रकार की
तपः शक्ति विशेष
त्रिय=तीन, त्रय

थ

थये=हुए

द

दम=इन्द्रियों का वश करना
दल=पत्ते, पत्र
दादर=दादुर, मेंढक
दाने=स्याने, दाता
दिव=दिव्य, देवलोक
दीशनिश=दिन रात
दुन्दभि=दुन्दुभि+वाद्यविशेष
दुष्टाश्रव=हिंसादि अशुभ कर्माणु तथा
तथा विचार का आगमन
देवपणो=देवत्व, देवपन
द्रव=द्रव्य, वस्तु, बाह्य रूप
द्याल=दयाल
दृष्टन्त=दृष्टान्त

ध

धनु=धनुष, (चार कोसका)

+मंगल सूचक वाद्य जिसे देव बजाते हैं

धर,=पर्वत, धरना
धरि=धारण कर
धवल=श्वेत, सफेद
धुनि=ध्वनि, आवाज

न

नग=पर्वत
नरसिहे=एक वाद्य विशेष, तुरही
नाकवासी=स्वर्ग में रहने वाले, देव
नागर=श्रेष्ठ
निकर=समूह
निजरा=निर्जरा, कर्मक्षय होना
निमित्त=ज्योतिष
नियाण=निदान+
निरुक्त=प्रकट करना, व्याख्या करना
निस-वासर=रात-दिन

प

पगमाने=
पट=वस्त्र
परमौधि=परम अवधि, शुद्ध अवधि ज्ञान
परहर=दूर कर
परिव्राजक=सन्यासी
परसन, पर्सण=स्पर्श के लिए (छूने को)
पहि=प्रातः, भोर

+ कृत तपः संयम को भौतिक पदार्थ सुख की प्राप्ति के लिए बेच देना।

रातें=लाल, रक्त
रासी=राशि, पुञ्ज
रिस=(ऋषि) क्रोध, अमर्ष
रिषी=ऋषि, साधु
रंजत=रंगा हुआ, रंजित

ल

लखैं=देखते हैं
लोचन रस=रूप, दृष्टि राग, विषय

व

वपु-वर=श्रेष्ठ शरीर
वपु=शरीर
वर=श्रेष्ठ
वाक्= वाग्, वाणी, वाक्य, वचन
वामी=वायीं, रति
वारद=वाणी
विप्रन=ब्राह्मणों
विस्माय=विस्मित हुए, चकित हुए
विरंचि=ब्रह्मा
विवभांत सुं=दो प्रकार से
विव लोचन=दोनों आँखों
वैक्रिय=एक शक्ति विशेष
व्यंतर=एक जाति के देव,

स

सकति=शक्ति, लब्धि
सभ, सभु=सब, सर्व
समदृष्ट=सम्यग् दृष्टि, राग-द्वेष में
समदिष्टि=मन को सम रखने वाला
समाध=समाधि, समभाव रखना
समोसरणे=समवसरण(मंडप) में
सरव=सर्व, सब
सर्वदर्शी=सब कुछ देखने वाले
सर्वमति=सर्वज्ञ, केवल ज्ञानी
सर्वति=सबसे, सर्वतः, सब तरह
सर्वज्ञ=सब कुछ जानने वाला
सविता=सूर्य
सामानिक=बराबर वाले
सारद=शारदा, सरस्वती-विद्यादेवी
सिचानक=बाजपक्षी
सीम=सीमा
सुक=तोता, शुक
सुकृत=पुण्य, अच्छा कर्म
सुयाने=सुशोभित
सुधा=अमृत
सुर=देवता
सुरराज=देवराज-इन्द्र
सुरिन्द=सुर+देव=देवेन्द्र
सैनपति=सेनापति
सैनिक=श्रेणिक, मगधराज
स्वांग=कौतूहल पूर्ण अनुकरण
श्रुति=शास्त्र

श

शम=शांति, कषाय-उपशांति

शिख=अग्नि, आग

शिव=मोक्ष, कल्याण

शिव खेत=मोक्ष क्षेत्र, सिद्धशिला

ह

हर=हरण करना, दूर करना

हरि=वासुदेव, त्रिखण्डी राजा

हेम=स्वर्ण, सोना

होर=और, अन्य

[दो]

※ चौतीस अतिशय ※

१. देवाधिदेव के शिर के केश, दाढ़ी और मूँछों के बाल नहीं बढ़ते, शरीर के रोम और नख अवस्थित रहते हैं।

२. शरीर स्वस्थ एवं निर्मल रहता है। (मल आदि का लेप नहीं लगता)

३. शरीर का मांस और रक्त गाय के दूध के समान श्वेत वर्ण वाले होते हैं।

४. श्वासोच्छ्वास पद्म एवं नील कमल की सुगन्धि जैसा सुगन्धित होता है।

५. आहार और निहार प्रच्छन्न (गुप्त) होता है जिसे चर्मचक्षु वाला नहीं देख सकता।

६. आकाश में धर्म चक्र चलता रहता है। (तीर्थंकर देव के आगे)

७. जहां विराजित होते हैं वहां तीन छत्र रहते हैं

८. दोनों ओर तेजोमय श्रेष्ठ चामर (चंवर) रहते हैं

९. बैठने के लिए निर्मल, स्फटिक रत्नमय पाद पीठ सहित सुन्दर सिंहासन होता है।

१०. उनके आगे सहस्रों विविध वर्ण वाली लघुपताकाओं से सज्जित एक महा इन्द्रध्वज चलता है।

११. उनके खड़े रहने, बैठने तथा स्थित रहने पर ऊपर छाया के लिए

पत्र, पुष्प, फल युक्त नील वर्ण वाला, ध्वजा, छत्र एवं घण्टा और पताका से युक्त अशोक वृक्ष उपस्थित रहता है।

१२. उनके शिर के पीछे एक सूर्य के सदृश प्रभामण्डल (भामण्डल) होता है। जो दशों दिशाओं को देदीप्यमान करता है।

१३. जहां वे विचरण करते ह वह भूमिभाग समतल और रम्य हो जाता है।

१४. इस स्थान में रहे कांटे भी अधोमुख हो जाते हैं।

१५. ऋतु विपरीत-सुखस्पर्श वाली बन जाती है अर्थात् ग्रीष्म ऋतु भी शीतलता प्रदान करने वाली हो जाती है।

१६. जहां वे विचरण करते हैं वहां का एक योजन परिमाण मडलाकार भूमि भाग संर्वतक नामक वायु से कचवर आदि रहित होकर शुद्ध एवं रमणीय हो जाता है।

१७. जिस मार्ग से वे विचरण करते हैं उस मार्ग में मेघ आकाश और पृथ्वी की धूलि को शान्त कर देता है।

१८. मार्ग में जानुप्रमाण देव कृत पुष्पवृष्टि होती है, फूलों के डंठल नीचे को ही रहते हैं।

१९. जहां वे विचरते हैं वहां अमनोज्ञ शब्द, गन्ध-रस-रूप और स्पर्श नहीं रहते।

२०. उक्त स्थान पर शुभ-मनोज्ञ शब्द-गन्ध-रस-रूप और स्पर्श प्रकट होते हैं।

२१. देशना देते समय इनका स्वर अतिशय हृदयस्पर्शी होता है और उच्च व गंभीर होता जो कि एक योजन तक सुनाई देता है।

२२. वे अर्धमागधी में भाषण करते हैं।

२३. देवाधिदेव के मुख से निस्सृत वाणी को आर्य, अनार्य, पशु-पक्षी, सभी प्राणी अपनी २ भाषा में समझते हैं, वह उन्हें हितकारी, सुख-कारी और कल्याणकारी प्रतीत होती है।

२४. मनुष्य, देव, तिर्यंच सभी प्राणी पूर्वबद्ध वैर को भुलाकर श्रीचरणों में एकत्रित बैठे धर्मदेशना सुनते हैं।
२५. तीर्थंकर के समीप अन्यतीर्थी भी आकर वंदन करते है।
२६. वादी समीप आते ही निरुत्तर हो हो जाते हैं।
२७. ईति--चूहे आदि जानवरों से धान्य आदि का उपद्रव नहीं होता,
२८. मारी-जन संहारक प्लेग आदि रोगोपद्रव नहीं होता।
२९. स्वचक्र भय-- अपने राजा एवं सेना से उपद्रव नहीं होता,
३०. परचक्र भय-- अन्य राजादि द्वारा आक्रमण नही होता,
३१. अतिवृष्टि– अधिक वर्षा नही होती,
३२. अनावृष्टि– वर्षा का अभाव नहीं होता,
३३. दुर्भिक्ष– दुःकाल नहीं पड़ता
३४. पूर्वोत्पन्न उपद्रव-कलहोपशांत– पहले उत्पन्न हुए रोग कलह उपद्रव आदि भी शांत हो जाते हैं।

ये जहां तीर्थंकर देव विराजित होते हैं वहां से २५ योजन तक इन दोषों का (२७--३४) अभाव रहता है।

उक्त चौतीस अतिशयों में से दो से पांच तक के (चार) अतिशय तीर्थंकर देव के जन्मतः होते हैं। २१ से २४ तथा १२ वां भामण्डल, ये पन्द्रह अतिशय घातिक कर्म के क्षय से उत्पन्न होते हैं, शेष देव-कृत होते हैं।

[तीन]

❋ पैंतीस वाग् अतिशय ❋

१. संस्कारत्व—भाषा और व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष,
२. उदात्तत्व—ऊँची आवाज,
३. उपचारोपेत—ग्राम्यदोष से रहित होना,
४. गंभीरत्व—मेघ ध्वनि की भाँति,
५. अनुनादितत्व—प्रतिध्वनि सहितहोना,
६. दक्षिणत्व—सरलता से युक्त

७. उपनीतरागत्व—मालकोश आदि रागयुक्त होना,
८. महार्थत्व—महाअर्थ युक्त
६. अव्याहतपौर्वापर्य—पूर्वापर का विरोध न होना,
१०. शिष्टता–स्वसिद्धान्त का प्ररूपण अथवा सभ्यतासूचक वाणी का होना,
११. असंदिग्धत्व—संशय उत्पन्न होने देने वाला
१२. अपहृतान्योत्तरत्व—जिसमें दूसरा कोई दोष न निकाल सके ऐसी निर्दोष वाणी।
१३. हृदय ग्राही—श्रोता का मन हरने वाली वाणी,
१४. देशकालव्यतीतत्व—प्रसंगोचित, देश, काल के अनुरूप होना,
१५. तत्त्वानुरूपत्व—तत्त्व के अनुकूल व्याख्यान करना,
१६. अप्रकीर्ण प्रसृतत्व—असम्बद्ध-व्यर्थ का विस्तार वाली वाणी का न होना। अधिकृत और सम्बन्ध व्याख्या वाली होती है।
१७. अन्योन्यप्रगृहीतत्व—वाक्य और पद का परस्पर सापेक्ष होना,
१८. अभिजातत्व—श्रोता अथवा वक्ता की भूमिका के अनुसार वाणी का होना
१६. अतिस्निग्ध-मधुरत्व—स्नेह और माधुर्य-गुण युक्त होना
२०. अपरमर्मवेधित्व—दूसरे का मर्म-रहस्य प्रकट न करने वाली वाणी
२१. अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व—अर्थ धर्म और अभ्यास वाला होना
२२. उदारत्व
२३. परनिन्दात्मोत्कर्ष विप्रयुक्तत्व—दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा से रहित वचन का होना
२४. उपगत श्लाघत्व—ऊपर वाले दोषों को न होने से वक्ता की प्रशंसा होना
२५. अनपनीतत्व—काल, कारक, वचन, लिंग आदि के विपर्यास रूप दोष का न होना,
१६. उत्पादिताच्छिन्न कौतूहलत्व—प्रतिपाद्य विषय में श्रोताओं को एक धार कौतूहल उत्पन्न करने वाला वचन।

२७. अद्‌भुतत्व—मन में हर्ष और विस्मय जनक

२८. अनतिविलंब—धारा-प्रवाहयुक्त, रुक २ कर न बोला गया,

२९. विभ्रम-विक्षेप-किलिकिञ्चितादि—विभ्रम, यानि वक्ता के मन की भ्रांति विक्षेप–अभिधेयार्थ में मन की अनासक्ति (मन न लगना) किलिकिंचित–रोष, भय, अभिलाषा आदि भावों मिश्रण तथा पृथक रूप में अवण करते हुए उत्पन्न होना, इन मानसिक दोषों से रहित वचन।

३०. अनेक जातित्व या विचित्रत्व—वर्णनीय विषय की विविधता और प्रतिपादन की अनुपमता से युक्त,

३१. आहितविशेषत्व – अन्य पुरुषों के वचनों से विशिष्ट वचन होने से श्रोताओं को विशिष्ट ज्ञान एवं वुद्धि की प्राप्ति कराने वाला

३२. साकारत्व—वर्ण, पद, वाक्य आदि का अलग २ होने के कारण आकार वाला वचन।

३३. सत्वपरिगृहीतत्व—साहस युक्त, वाणी का ओजस्वी होना,

३४. अपरिखेदित्व—बोलते २ थकावट न होना, अथकवक्ता,

३५. अव्युच्छेदित्व—प्रतिपाद्य विषय की पूर्ण सिद्धि न होने तक धारा प्रवाह (बिना रुके) व्याख्यान करते रहना।

उपर्युक्त अतिशयों में प्रथम सात अतिशय शब्दाश्रयी हैं– अर्थात् शब्दातिशय हैं शेष अर्थाश्रयी है।

[चार]

※ तीर्थङ्कर देवों की अवगाहना–आयु ※

तीर्थं०	अवगाहना	तीर्थं०	आयु
१	५०० धनुष	१.	८४ लाख पूर्व
२	४५० ,,	२.	७२ ,, ,,
३	४०० ,,	३.	६० ,, ,,
४	३५० ,,	४.	५० ,, ,,

तीर्थ०	अवगाहना		तीर्थ०	आयु		
५	३००	,,	५.	४०	,,	,,
६	२५०	,,	६.	३०	,,	,,
७	२००	,,	७.	२०	,,	,,
८	१५०	,,	८.	१०	,,	,,
९	१००	,,	९.	[२	,,	,,
१०	९०	,,	१०.	१	,,	,,
११	८०	,,	११.	८४	लाख	वर्ष
१२	७०	,,	१२.	[७२	,,	,,
१३	६०	,,	१३.	६०	,,	,,
१४	५०	,,	१४.	३०	,,	,,
१५	४५	,,	१५.	१०	,,	,,
१६	४०	,,	१६.	[१	,,	,,
१७	३५	,,	१७.	९५०००	हजार	वर्ष
१८	३०	धनुष	१८.	८४०००		,,
१९	२५	,,	१९.	५५०००	हजार	वर्ष
२०	२०	,,	२०.	[३०,०००		,,
२१	१५	,,	२१.	१०,०००		,,
२२	१०	,,	२२.	१०००		,,
२३	९	हाथ	२३.	१००		,,
२४	७	,,	२४.	७२		वर्ष

कथा-प्रसंग

(१) गौतमः-

गौतम भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य थे। इनका पूरा नाम इन्द्रभूति था। ये गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। अपने युग के ये प्रकाण्ड पण्डित एवं वादी थे। अपनी तर्कणाशक्ति एवं विपुलमति से प्रतिवादियों को तत्त्वचर्चा में मात देनेवाले थे। किन्तु स्वयं उनके हृदय में आत्मा, जीव के विषय में एक शंका, जिज्ञासा बनी रहती थी कि "आत्मा है कि नहीं, है तो किस स्वरूप में ?"

एक बार इन्द्रभूति गौतम मगधदेश की राजधानी राजगृही में महायज्ञ कर रहे थे, उस समय उनके यज्ञमण्डप के ऊपर से देव आदि पार्षद् जाने लगे। गौतम को उनके मार्ग विस्मरण का ध्यान आया पर किसी ने कहा कि एक ऐन्द्रजालिक और बैठा है जिनके दर्शनार्थ ये जा रहे हैं। गौतम बड़े विस्मित होकरबोले-कौन है वह ? मैंने तो सबको परास्त कर दिया है। अभी जाकर उसके विद्यामान को भंग किए देता हूं।"

गौतम ज्योंही श्रमण महावीर के सम्मुख पहुँचे कि उन्होंने गौतम की मनो जिज्ञासा और तत्कालीन भावों का कथन किया-"गौतम ! तुम्हारे मन में "आत्मा का अस्तित्व है या नहीं" यह जिज्ञासा, शंका है ?" गौतम ने स्वीकार किया। बस, हृदय सर्वात्मना समर्पित हो गया। गौतम प्रथम गणधर हो गए। तप-संयम से अपनी आत्मा को भावित करने लगे।

इनका सात हाथ ऊंचा शरीर था, समचतुरस्र संस्थान था। शरीर संघयण गठन, वज्रऋषभ नाराच था। कसौटी पर खींची गई स्वर्ण रेखा के सदृश अथवा पद्म केशर की भांति गौर वर्ण वाले थे। अत्यन्त उग्र तपस्वी, दीप्त तपस्वी, महातपस्वी, उदार, घोर--दूसरों द्वारा जिसका आचरण न हो सके ऐसे कठिन आचारयुक्त घोरतपस्वी, घोर-कठिन, ब्रह्मचर्

पालक, शरीर-संस्कारों--आवश्यकताओं को कम करने के कारण त्यक्त शरीरी, संक्षिप्त और विपुल तेजोलेश्या के धारक चौदह पूर्व के ज्ञाता, चार ज्ञान के धारक, और सर्वाक्षर सन्निपाती—सर्व अक्षर रूप ज्ञान के ज्ञाता थे।

(२) स्कन्दक—

श्रावस्ती नगरी में कात्यायन गोत्री गर्दभाल नामक परिव्राजक रहता था। उसका एक शिष्य स्कन्दक परिव्रजाक था। स्कन्दक ऋगादि चार वेद, पांचवा इतिहास, छट्ठा निघंटु—कोष का सांगोपांग ज्ञाता था। इसके साथ साथ कापिलीय शास्त्र, गणित शास्त्र, शिक्षा शास्त्र आदि अनेक ब्राह्मण एवं परिव्राजकीय नीति तथा दर्शन शास्त्रो में दक्ष था।

उसी श्रावस्ती में भगवान महावीर का श्रावक पिंगल नामक निर्ग्रन्थ रहता था। एक दिन पिंगल निर्ग्रन्थ स्कन्दक परिव्राजक के आश्रम पर जाकर आपेक्ष पूर्वक प्रश्न किए—''मागध! लोक सान्त है या अनन्त? सिद्ध सान्त है या अनन्त है? किस मौत से म्रियमाण जीव घटता तथा बढ़ता है?

पिंगल ने दो-तीन बार प्रश्न दुहराये। इस पर स्कन्दक परिव्राजक शंकित, कांक्षित और विचिकित्सक हो गया। उसकी बुद्धि कुंठित हो गई तथा वह बहुत क्लेशित हुआ। कोई प्रत्युत्तर न देकर मौन बैठा रहा। पिंगल ने फिर प्रश्न किए पर स्कन्दक मौन ही रहा।

उधर इसी समय निकट की नगरी कृतंगला के बाहर छत्रपलाश उद्यान में श्रमण महावीर आये। श्रावस्ती के लोग दर्शनार्थ धर्मश्रवणार्थ गये। उन्हें जाते देखकर उनसे सुनकर स्कन्दक के मन में भी विचार आया कि मुझे कल्याण रूप, मंगल रूप, देवरूप और ज्ञानरूप श्रमण महावीर के पास जाना चाहिए और वंदना, नमस्कार, सत्कार और सम्मान तथा पर्युपासना करके मनः शंकाओं का समाधान करना ही चाहिए। यह सोच-

कर स्कन्दक वहां से मठ में आया और वहां से त्रिदण्ड, कमण्डल, रूद्राक्ष माला आदि अपने उपकरण साथ लेकर कृतंगला की ओर चल पड़ा।

इधर श्रमण भगवान महावीर ने गौतम गणधर को सम्बोधित किया हे गौतम ! आज तू अपने पुराने साथी को देखेगा।" –गौतम को कुतूहल जिज्ञासा आदि उत्पन्न हुई और उन्होंने भगवान से पूछा। सर्वज्ञ ने सारा वृतान्त सुना दिया और कहा "यह मेरे पासमुण्डित होकर अनगार धर्म ग्रहण करेगा। इतने में स्कन्दक वहां आ पहुँचा। गौतम स्वामी शीघ्रता से उमके सामने गए और स्वागत किया – हे स्कन्दक ! तुम्हारा स्वागत है, हे स्कन्दक तुम्हारा सुस्वागत है, हे स्कन्दक ! तुम्हारा अन्वागत है। तुम्हारा स्वागत अन्वागत है।"

स्वागत के उपरान्त गौतम ने उसके यहां आने का अभिप्राय बताया तो उसने अत्यन्त विस्मित होकर पूछा—यह सब तुमने किस शक्ति के बल जाना है अथवा किसी ने तुमसे कहा है ? वह ऐसा कौन ज्ञानी, तपस्वी पुरुष है जिसने मेरी रहस्य, गुप्त बात को जानकर तुम्हारे को पहले ही बतला दी।"

गौतम ने समाधान दिया—हे स्कन्दक ! मेरे धर्म गुरू, धर्मोपदेशक, श्रमण भगवान् महावीर सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन के धारक, अरिहंत, जिन और केवली हैं। वे भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के ज्ञाता हैं। उन्होंने ही मुझे तुम्हारी यह गुप्त बात कहदी थी।'

इस पर स्कन्दक ने भगवान महावीर के पास उसे लेजाने का अनुरोध किया, गौतम उन्हें भगवान् के पास ले गए। भगवान महावीर के अशृंगारित पर सदृश, कल्याणरूप, शिवरूप, धन्य, मंगल रूप अलंकार विहीन पर अत्यन्त सुशोभित और शुभ लक्षण युक्त शरीर को देखकर अत्यन्त प्रमुदित, हर्षित तथा पुलकित हुआ। उसने तीनबार प्रद- क्षिणा पूर्वक वंदना की। फिर प्रश्न किए। भगवान महावीर ने उसकी शंकाओं का समाधान कर दिया।

[प्रश्न ऊपर वाले ही पिंगल के]

अब स्कन्दक परिव्राजक बोध को प्राप्त हुआ। उसने शरीर को मूल्यवान सामान की तरह मानकर भगवान के समीप दीक्षित होने की अभिलाषा प्रकट की। महावीर की आज्ञा प्राप्त होने पर वह उनके निकट दीक्षित हो गया। अब वे इन्द्रियनिग्रही, गुप्त, ब्रह्मचारी, त्यागी, सरल, धन्य, क्षमाशील. जितेन्द्रिय, शुद्धव्रती, निराकांक्षी, संयम में दत्तचित, सुन्दर साधुमार्ग में निरत तथा दमन शील थे और सदा निर्ग्रन्थ प्रावचनानुसार अपनी दिनचर्या व्यतीत करने लगे।

अन्त में, १२वर्ष संयम पालन करके, गुणरत्न संवत्सर जैसे तप तथा भिक्षुप्रतिमा का आचरण कर, एकमास का संथारा समाधि से देहत्याग करके अच्युत कल्प में बावीस सागरोपम की आयु वाले देव बने हैं, वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होंगे।

(३) शिवराजर्षि—

उस समय हस्तिनापुर नामक का नगर था। उसके शिव नामक राजा थे। उनके धारिणी पटरानी तथा शिवभद्र नामक पुत्र था।

एक बार रात्रि के पिछले प्रहर में राज्य सम्बन्धी विचार करते हुए राजा शिव को अपने आत्म-कल्याण का विचार आया। राजा ने दूसरे दिन ही अपने पुत्र को राज्याभिषेक कर दिया और एक दिन अपने सब सम्बन्धियों एवं स्नेहियों से आज्ञा प्राप्त कर गंगा नदी के किनारे निवास करने वाले वानप्रस्थ तापसों से दीक्षा लेकर वह दीक्षा प्रोक्षक तापस हुआ। दीक्षा लेते ही वह निरन्तर दो-दो उपवास युक्त दिक्‌चक्रपाल तप करने लगा।

इस प्रकार से उग्रतप करते राजर्षिशिव को प्रकृति की भद्रता, स्वभाव की सरलता, विनय तथा आवरण रूप कर्मों के क्षयोपशम से एक समय विभंगज्ञान उत्पन्न हुआ। उस विभंग ज्ञान के बल पर राजर्षि ने इस

लोक के सात द्वीप और सात समुद्र प्रत्यक्ष देखे तथा इसी आधार पर उन्होंने निश्चय किया कि लोक में सात द्वीप और सात समुद्र ही है और नहीं।

हस्तिनापुर नगर में यह बात लोगों के मुंह गई। दैवयोग से उधर भगवान महावीर पधार गये। ज्ञानी गौतम ने लोगों से यह मान्यता सुनी और भगवान से पूछा। उन्होने इसे असत्य कहा। यह बात भी नगर में फैल कर शिवराजर्षि के कानों तक पहुँची अतः वह भी शंकित, कांक्षित तथा संदिग्ध हो गये। इससे उनका विभंग ज्ञान नष्ट हो गया। वे भगवान महावीर के पास इस विचार से गये कि वे सर्वज्ञ है सर्वदर्शी है, उनका उपदेश सुनना मेरे इस भव और परभव के लिए हितकर होगा।

भगवान महावीर के समीप शिवराजर्षि ने धर्मकथा सुनी निर्ग्रन्थ-प्रवचन के प्रति श्रद्धाशील, रुचिशील तथा आचरण शील बने और भगवान महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया। विविध तपश्चरण से आत्मा-विशुद्धि कर अनेक वर्षो तक शुद्ध सयम का पालन कर एक मास के समाधिमरण से देह त्याग कर सिद्ध, बुद्ध, निरंजन बने।

(४) सोमल —

वाणिज्यग्राम नामकनगर था। वहां सोमिल नाम वाला एक ब्राह्मण रहता था। जो ऋग्वेदादि चार वेदों का ज्ञाता तथा ब्राह्मण शास्त्रों एवं नीति में कुशल था। साथ ही वह समृद्धि शाली तथा प्रभाव शाली भी था।

भगवान महावीर पधारे। सोमिल ने विचार किया-"मैं आज महावीर के पास जाऊं यदि उन्होने मेरे प्रश्नों के उत्तर समीचीन दिए तो उन्हें वन्दना नमस्कार करूंगा अन्यथा उन्हें निरुत्तर कर खिष्ट करूंगा" यह सोचकर वह आया। उसने यात्रा, यापनीय, अव्याबाध, विहार, सरिसव,

मांस, कुलत्था और आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न किए। भगवान महावीर ने उसके अपेक्षावाद से भेद-प्रभेदपूर्वक उत्तर दिए।

सोमिल का समाधान हुआ। वह भगवान के चरणों में प्रभावित हुआ। श्रावकधर्म ग्रहण किया। एक मासिकी समाधि से मृत्युपरान्त सौधर्म देवलोक में जन्म लिया।

(५) सुदर्शन श्रेष्ठि—

भगवान महावीर का युग था। वाणिज्यग्राम नगर में सुदर्शन नाम का श्रेष्ठि रहता था। वह धनी, प्रभाव सम्पन्न तथा किसी से भी पराभूत नहीं होने वाला था। ज्ञान से जीव-अजीव आदि तत्वों का ज्ञाता था।

एक बार श्रमण भगवान महावीर नगर के बाहर द्युतिपलाश उद्यान में आये। आगमन की सूचना पाकर श्रेष्ठी सुदर्शन बड़ा हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ। अनेक व्यक्तियों के साथ पैदल ही भगवान के दर्शन के लिए गया। वहां धर्मकथा सुनी। धर्मकथा सुनकर उसका हृदय अत्यन्त आनन्दित हो गया। फिर उसने विनय पूर्वक भगवान देवाधिदेव से प्रश्न यिया—

हे भन्ते! काल कितने प्रकार का है?

श्रमण भगवान ने उत्तर दिया— काल चार प्रकार का है: प्रमाण काल, यथाधुनिवृ॰तिकाल, मरण काल और अद्धाकाल।

प्रमाणकाल:— दिन रात आदि। यथानिवृ॑तिकाल—नारक, देव मनुष्य आदि ने जव जितनी आयु बांधी है उसका उतना ही पालन (पूरी) करना यथायुनिवृ॑तिकाल है।

मरणकाल—शरीर से जीव या जीव से शरीर का वियोग होना मरणकाल है। अद्धा काल अनेक प्रकार का है— समय, अवलिका मुहूर्त्त प्रहर, दिन रात उत्सर्पिणी, अवसर्पणी आदि।

पल्योपम और सागरोपम द्वारा नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवों के आयुष्य का माप होता है। ये मापमेयिक काल कहलाते हैं।

भन्ते ! पल्योपम तथा सागरोपम काल समाप्त होते हैं ?

हे सुदर्शन ! होते हैं ! भगवान् ! कैसे ? निम्न घटना से ज्ञात हो सकेगा—

यह उस समय की बात है। हस्तिनापुर नामक नगर था। वहां बल नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी प्रभावती थी। उसकी रानी ने एक दिन रात्रि के तीसरे प्रहर के अन्त में अर्द्धनिद्रित अवस्था में आकाश से उतरकर मुख में एक श्वेतवर्ण वाले सिंह को प्रवेश करते स्वप्न को देखा। इसपर वह जाग पड़ी। राजा को बताया गया। स्वप्न पाठकों से फल की पृच्छा की। उन्होंने इसे उत्तम बताते हुए कहा—यह स्वप्न उदार, कल्याणप्रद, मंगलरूप तथा आरोग्य एवं सुख-समृद्धि का सूचक है। इससे प्रतीत होता है अर्थलाभ, पुत्रलाभ और राज्य लाभ होगा और निश्चय रूप से आपके कुल में ध्वज सदृश पुत्ररत्न उत्पन्न होगा। बड़ा होने पर या तो (मांडलिक) राजा होगा अथवा भावितात्मा अनगार होगा।

रानी गर्भ का प्रतिपालन सम्यग् प्रकार से करने लगी। यथा समय रानी ने एक श्रेष्ठ पुत्र रत्न को जन्म दिया। पुत्र जन्म का उत्सव हुआ। बारहवें दिन नामकरण हुआ, कुटुम्बियों तथा सम्बंधियों के सामने "महाबल कुमार"।

पर्वतकन्दरा में निर्विघ्न रूप पनपती हुई चंपक वेली की भांति महाबल कुमार बड़ा होता गया। एक दिन वह बाल से यौवनावस्था में आकर विवाह योग्य हुआ। माता-पिता ने आठ राजकन्याओं के साथ विवाह कर दिया। उसके माता-पिता ने उस समय आठ २ वस्तुओं का प्रतिदान किया। राजा ने महाबल और वंधुओं के रहने के लिए आठ महल बनवाये और उनके बीचों बीच सैंकड़ों स्तम्भ वाला एक कलापूर्ण महल बनवाया। जिसमें महाबल अपूर्व भोग भोगता हुआ रहने लगा।

इसी काल में श्री विमल नाथ तीर्थङ्कर के संतानिक धर्मघोष नामक मुनि ५०० साधुओं के साथ वहां हस्तिनापुर पधारे। उनके दर्शनार्थ जाते अनेक मनुष्यों को देखकर महाबलकुमार को भी कुतूहल उत्पन्न हुआ। कंचुकी से कारण पूछा। कारण का ज्ञान हुआ और महाबल भी दर्शन के लिए पहुँचा। धर्मकथा हुई। हृदय प्रभावित हुआ। कुमार ने दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा प्रकट की। राजा बल ने बहुत समझाया राज्याभिषेक भी किया गया पर वह न डिगा। अपने निश्चय पर टिका रहा। अन्त में आचार्य धर्मघोष के पास दीक्षित हो गया।

दीक्षा-ग्रहण के पश्चात्, चौदहपूर्व का ज्ञान प्राप्त किया, विविध प्रकार का तपश्चरण किया और आत्मा को निर्मल बनाया। बारह वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालन कर एक मास की संल्लेखना संथारा से समाधिपूर्वक देह का परित्याग कर महाबल अणगार पांचवें ब्रह्मकल्प में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहां के देवों की स्थिति दश सागरोपम की है।

हे सुदर्शन ! वह महाबल देव तू ही है। दश सागरोपम की स्थिति का क्षय कर यहां वाणिज्यग्राम नगर मे उत्पन्न हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि पल्योपम और सागरोपम का क्षय एवं अपचय होता है।

भगवान् महावीर की बात सुनकर सुदर्शन को शुभ अध्यवसायों के परिणाम स्वरूप जाति स्मरण ज्ञान हो गया। इस ज्ञान के प्रभाव से उसे अधिक श्रद्धा, संवेग तथा वैराग्य उत्पन्न हुआ। भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण करली। बारह वर्ष तक संयम पालन कर अन्त मे एक मासिकी संलेषणा कर वह सिद्ध-बुद्ध तथा विमुक्त हुआ।

(६) राजर्षि संयतिः—

उस समय कम्पिलपुर नामक नगर था। वहां के राजा का नाम संयति था। राजा राजनीति आदि सर्वगुणों से सम्पन्न था। प्रजा उनके न्याय तथा रक्षण से संतुष्ट थी। किन्तु चन्द्र–कलंक की तरह उसके जीवन में एक मृगया–शिकार का दुर्गुण था।

एक बार राजा अपने इस दुर्व्यसन "शिकार" को पूरा करने के लिए चतुरंगिनी सेना को लेकर तथा परिवार सहित केसर-उद्यान में गया। वहां उद्यान में घोड़े पर सवार राजा संयति हरिणों का शिकार करने लगा। उसके बाण से एक मृग आहत हो गया।

उधर उसी केसरोद्यान में एक लताच्छादित मण्डप में एक गर्दभाली नाम के अणगार, तपोधन, स्वाध्याय ध्यान से संयुक्त, धर्मध्यान में लीन थे। राजा द्वारा किया गया वह घायल हरिण भयभीत होकर मुनि के सन्मुख आकर बैठ गया। राजा शिकार लेने को पीछे २ दौड़कर आया। मुनि को देखकर वह स्तब्ध हो गया और विचार करने लगा—मैंने रस-लुब्ध होकर व्यर्थ ही मुनि के हरिण का वध कर दिया। मैं बड़ा मन्द-पुण्य हूं।' यह सोचता हुआ वह घोड़े से उतर पड़ा और मुनि से इसके लिए बार बार क्षमा-याचना करने लगा कि भगवान्! आप मेरे अपराध के लिए मुझे क्षमा करें।

मुनि ने राजा संयति को अभय किया और अहिंसा का उपदेश दिया—राजन्! इस अनित्य संसार में हिंसा में तुम क्यों लीन हो रहे हो। तुम्हें सब कुछ छोड़कर एक दिन अवश्य ही यहां से जाना होगा फिर राज्य आदि में क्यों आसक्त हो रहे हो? जीवन, यौवन, रूप ये सब विद्युत के समान चंचल हैं जिसमें तुम मूर्च्छित हो रहे हो। स्त्री, पुत्र, बान्धव आदि जीवित रहते हुए का ही अनुगमन करते हैं मरने पर नहीं, पुत्र के मरने पर पिता परम दुखी होता है और उसकी अन्तक्रिया कर देता है, उसी प्रकार पिता के मरने पर पुत्र, बान्धव आदि भी। राजन! व्यक्ति द्वारा रक्षित द्रव्य, दारा आदि उसके मरणोपरान्त अन्य पुरुष के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। मात्र सुख अथवा दुख के अनुभव का कारण मूल कर्म के आधार पर जीव परभव में जाता है शेष सब यहीं रह जाता है।

ऐसे नश्वर पुद्गल परिणाम रूप धर्म को सुनकर संयति महति संवेग

तथा निर्वेद भाव को प्राप्त हुआ और राज्य आदि का परित्याग कर गर्दभालि अणगार के पास दीक्षित हो गया। वे वनवासी आचार्य गदभालि थे।

प्रव्रज्या के उपरान्त जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया। राजर्षि संयति ने क्षत्रीय नामक महर्षि से स्वसमय-पर समय की ज्ञान चर्चा की तथा विविध तपश्चरण से आत्म-निर्मलता प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गए।

(७) मगधाधिप श्रेणिक और अनाथी महामुनिः—

उस काल में मगध नामक देश था। उसकी राजधानी राजगृही थी। वहां के महाराज का नाम श्रेणिक (बिम्बासार) था। उसकी प्रसिद्ध रानी चेलना थी। अभयकुमार, कोणिक, (अजातशत्रु) जैसे वीर पुत्र थे। यह राजा मांडलिक राजा था। एक क्रोड़, एकत्तर लाख ग्राम परगनों का स्वामी था।

एक बार राजा श्रेणिक मण्डिकुक्ष नामक उद्यान में सैर करने के लिए गया। वह उद्यान नाना द्रुमों, लताओं तथा नाना जाति के पक्षियों से सेवित और पुष्पों से आच्छादित तथा नन्दन वनोपम था। इस उद्यान में किसी वृक्ष के तले विराजित सुकुमार, सुसमाधिवान, सुखी एक संयति को देखा। साधु के रूप, लावण्य तथा तारुण्य को देखकर राजा अत्यन्त विस्मित हुआ। उसने पांव वंदना की और करबद्ध होकर पूछने लगा—स्वामी! तरुण-अवस्था में प्रव्रजित क्यों हो गये? यह तो सुख भोग का काल है संयति, और तुम श्रामण्य में उपस्थित हो गये?

मुनि ने उत्तर दिया— महाराज! मैं अनाथ हूं, मेरे कोई नाथ नहीं, जो कि अनुकम्पा करके मुझे सुखी कर देवे। श्रेणिक हंस पड़ा। सोचने लगा इतने ऋद्धिवान के कोई नाथ नहीं? अन्त में बोल पड़ा—मुने! मैं तुम्हारा नाथ बनता हूं। तुम इस पर्याय का त्याग कर भोगों का उपभोग करो, मित्र, बान्धव जाति के साथ रहो। यह मनुष्यत्व पुनः दुर्लभ है।

मुनि उत्तर में कहने लगे—राजन् ! तू अपने का आप ही अनाथ है, जो स्वयं का अनाथ है वह दूसरे का नाथ कैसे हो सकता है ?

इस उत्तर को सुनकर राजा श्रेणिक बड़ा विस्मित तथा दुखित हुआ। उसने विचार किया और कहा— मुने ! मैं अनाथ कैसे ? मेरे पास हाथी, घोड़े, अन्तःपुर, मनुष्य भोग, सर्व कामगुण तथा आज्ञा में ईश्वर के तुल्य हूं फिर अनाथ कैसे ? राजन् ! तुमने अनाथ के अर्थ और परमार्थ को नहीं जाना। यह मेरे से सुनों कि अनाथ और सनाथ व्यक्ति कैसे होता है—

कौशाम्बी नाम वाली नगरी थी। वहां के प्रभूतधन नाम के राजा थे। वे मेरे पिता थे। मेरे अन्य भी छोटे और बड़े भाई-भागनियां थीं। एक बार मेरे नेत्रों में पीड़ा तथा सर्वाङ्ग शरीर में दाह पैदा हुआ तथा तीसरी शिरोपीड़ा। यह पीड़ा, शस्त्र के चुभन सी, इन्द्र के वज्रप्रहार सी भयंकर थी। मेरे पिता ने मेरे लिए विद्या, मन्त्र, चिकित्सा, शल्यक्रिया आदि में प्रवीण, कुशल आचार्यों को बुलाया और उन्होंने चार प्रकार की पद्धति से इलाज किया किन्तु वे मुझे दुःख से विमुक्त नहीं कर सके। पिता ने सारधन दिया पर मुझे इस दुःख से न छुड़ा सके। इसी प्रकार बड़े, छोटे भाई दुखित होकर, बड़ी-छोटी भगीनियां भी, पुत्र शोक-ग्रस्त माता भी तथा भार्या जो मेरे में अनुरक्त, अनुव्रता, मेरी पीड़ा से आंसू डालकर मेरे वृक्षःस्थल को भिगो देनेवाली, जिसने मेरी पीड़ा के कारण, खाना पीना, शृंगार-स्नान, गन्ध विलेपन भी भूल गई थी तथा मेरे से एक क्षण भी अलग न रही वह भी मेरे दुःख को न बंटा सकी और न हीं मुझे दुःख से छुड़ा सकी। इसलिए राजन् मैं अनाथ हूं।

इस तरह राजन् ! मैं अकेला दुःख ही दुःख का अनुभव करता रहा। एक बार मेरे मन में संकल्प आया कि यदि मै मेरी व्याधियां समाप्त हो जायं तो मैं पूर्ण क्षमावान्, इन्द्रियजेता तथा आरम्भ-हिंसादि से रहित हो जाऊंगा। ऐसा सोचते हुए मुझे नींद आगई और मेरी सब पीड़ाएं दूर हो गईं और मैं दूसरे दिन बांधव आदि से पूछकर अणगार रूप में प्रव्रजित हो गया। अब मैं नाथ हूं अपना भी और दूसरों का भी।

राजन् ! अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूटशाल्मली वृक्ष है तथा अपनी आत्मा ही कामदुग्धा तथा नन्दन वन है । अपनी आत्मा ही सुख दुःख की कर्त्ता है, भोक्ता है । अपनी आत्मा ही मित्र तथा शत्रु है ।

महामुनि के ऐसे अश्रुतपूर्व उपदेश को सुनकर राजा श्रेणिक प्रसन्न हुआ तथा धर्म श्रद्धावान हुआ । धर्म श्रद्धा के बल पर राजा ने तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन किया । धर्म सेवा की, संयम मार्ग में जीवों को प्रवृत्त कराया । भगवान् महावीर का परम उपासक बना । इससे पूर्व वह मिथ्यात्वी अन्यायी था । आगामी उत्सर्पिणीकाल में प्रथम तीर्थङ्कर बन कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होगा ।

(८) जयघोष–विजयघोषः—

वाणारसी नामक नगरी थी । वहां ब्राह्मण कुल भूषण, यशस्वी, याज्ञिक एक विजयघोष नामक ब्राह्मण रहता था । एक बार उसने एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया । दैवयोग उन्हीं दिनों इन्द्रिय-निग्रह, मार्गगामी, महामुनि ग्रामानुग्राम विचरण करते वहां वाराणसी के बाहर उद्यान में पधारे । वे मुनि मासखमणोपवासी थे अतः भिक्षा के लिए उस विजयघोष ब्राह्मण के यज्ञ मण्डप में चले गये । भिक्षा की याचना की । याज्ञिक ने यह कहकर भिक्षा से इन्कार कर दिया कि जो ब्राह्मण वेदविद् हैं, ज्योतिष्क हैं, धर्मपारग हैं तथा अपना और दूसरों का कल्याण करने में समर्थ हैं उन्हें ही यह दिया जायेगा । इस पर अनुकम्पाशील, सर्व हित निरत मुनि बोले – हे याज्ञिक ! तुम नहीं जानते कि वेद का मुख क्या होता है, यज्ञ का, नक्षत्र का तथा धर्म का मुख क्या होता है ?

विजयघोष याज्ञिक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और वह मुनि से इनके मुखों की जानकारी के लिए प्रार्थना करने लगा । मुनि ने बताया कि अग्नि और होम वेद का मुख है, ऐसा यज्ञही वेद का तथा चन्द्रमा नक्षत्रों व धर्म का मुख काश्यप गोत्रीय महावीर हैं । हे विजयघोष ! केवल यज्ञ, हवन, तथा ॐकार के उच्चारण आदि से ब्राह्मण नहीं होता ।

इस प्रकार विजयघोष ने जयघोष मुनि के पास वास्तविक यज्ञ का स्वरूप जानकर सुबोध को प्राप्त हुआ और संयमाचरण से एक दिन सिद्ध बुद्ध एवं मुक्त हुआ। और जयघोष मुनि भी इस प्रकार आत्म-कल्याण को प्राप्त हुए। वस्तुतः इन मुनि का नाम जयघोष था। ये विजयघोष के भाई थे। साधु संगति से वैराग्य भाव को प्राप्त हो प्रवजित हो गये थे।

(९) साधु-साध्वी-निदान

एक बार भगवान् महावीर मगध जनपद की राजधानी राजगृही के गुणशील चैत्य में पधारे। सूचना पाकर राजा श्रेणिक भी सजधज कर रानी चेलना सहित दर्शनार्थ आया। धर्मकथा हुई। परिषद् चली गई। राजा-रानी अपने युग के सुन्दरतम व्यक्ति थे। उनके आगमन पर समवसरण में एक अद्भुत घटना घटी।

भगवान के सन्निकट रहे कई साधु-साध्वियों ने राजा के अदृष्ट एवं अश्रुतपूर्ण रूप को देखकर, रानी चेलना के रूपवती तथा धनवती जानकर आगामी जन्म में अपने अपने तपः संयम के बल पर उनके सदृश होने की कामना करली अर्थात् निदान कर लिया। भगवान महावीर ने उसी क्षण उन्हें सम्बोधित किया और निदान कर्म के दुःफल की बात कहकर उनकी आत्मा को पुनः संयम म ार्ग पर स्थित किया। उन्होंने बताया कि निदान कर्म का प्रतिफल सुन्दर नहीं होता। उससे बोधि तथा संयम की प्राप्ति सुलभ नहीं होती। विषयासक्त रहने से सद्गति का भी नाश होता है। आत्मा पर कर्मावरण धना होता चला जाता है।

उधर साधु–साध्वियों ने इसकी आलोचना की तथा प्रायश्चित ग्रहण कर अपने दोष स्थान को शुद्ध किया।

(१०) मेघकुमारः–

मगधजनपद में राजगृही नाम की नगरी थी। वहां के राजा श्रेणिक थे। उनकी धारिणी नामक एक रानी थी। उस रानी का पुत्र मेघकुमार था।

एक बार श्रमण भगवान महावीर राजगृही के बाहर गुणशील चैत्य में पधारे। राजा रानी के साथ मेघकुमार भी दर्शनार्थ गया। धर्म कथा सुनी। कुमार का हृदय प्रभावित हुआ और संवेग-निर्वेद को प्राप्त हुआ। इसने भगवान् के निकट प्रव्रज्या ग्रहण करने की ठान ली। माता-पिता ने बहुत समझाया, राज्याभिषेक भी किया पर वह न माना और दीक्षित हो गया।

दीक्षा के प्रथम दिन की रात को मेघकुमार को सबके बाद शयन का स्थान मिला। रात्रि में मुनियों के आने-जाने से अंधेरे में पांव की ठोकरें लगीं और वह घबरा उठा। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि कल प्रातःकाल पुनः राज भवन को लौट जाऊंगा। मेरे से यह संकट और ठोकरों का अपमान नहीं सहा जा सकता। राजभवन में रहते साधु मेरे से प्यार करते थे किन्तु अब इस प्रकार ठोकरें मारते हैं!

मेघमुनि की आत्मा की अन्तरध्वनि को महावीर ने सुनलिया, जान-लिया और उन्हें बुलाकर पूछा। मेघ ने स्वकीकार किया। महावीर ने उसके तीन पूर्वभव के पशु जीवन में हाथी के भव की घटना सुनाकर पर-वश कष्ट सहन तथा अनुकम्पा की बात कही। मेघ को उससे परम संवेग उत्पन्न हुआ और अपनी भूल के लिए क्षमा याचना की। और उसने नेत्रों के अतिरिक्त सारा शरीर सेवा के लिए समर्पित कर दिया।

दीक्षा लेने के उपरान्त मेघअणगार ने ग्यारह अंगों का अध्ययन, बारह भिक्षु प्रतिमा, गुणरत्न संवत्सर आदि विचित्र तपः कर्म का सेवन कर आत्मा को भावित किया। बारह वर्ष संयम का पालन कर अन्त समय विपुलगिरि पर्वत पर एक मास के अनशन सहित संलेखना, आलोचना प्रतिक्रमण कर समाधिपूर्वक देह त्याग कर विजय नामक २१ वें देवलोक में उत्पन्न हुए। महाविदेहवास में जन्म लेकर सिद्ध बुद्ध तथा मुक्त होंगे।

(११) मुनि हरीकेशीः-

काशी के श्वपच (चाण्डाल) कुल में उत्पन्न एक बालक का नाम हरिकेश था। जन्म से घृणा-पात्र, रूप से कुरूप, फिट्टी नासिका वाला, पीली चपटी

आंखों वाला। घृणास्पद जीवन स्थिति से तंग आकर मरने की ठानी किन्तु न कर सका। अन्त में वन में लतामंडप में फांसी लगाकर मरने का निश्चय किया। देवयोग से वहां एक मुनि ध्यान मग्न बैठे थे। उन्होंने आत्म हनन और धर्म का स्वरूप समझाया। संवेग को प्राप्त होकर मुनि बन गया। दीर्घ, उग्रतपस्या और सम कर ही। तपः प्रभाव से एक तिन्दुक यक्ष चरण-सेवक बन गया।

एक दिन ये मसोपवासी मुनि एक यज्ञमण्डप में भिक्षार्थ गये। वहां बहुत ब्राह्मण अध्यापक एवं विद्यार्थी एकत्रित थे। उन्होने उपहास किया मुनि के जीर्ण शीर्ण वस्त्रों तथा शरीर को देखकर और भिक्षा देने से इन्कार कर दिया। इस पर मुनि ने कहा जिनके भोजन के लिए यह तुमने आहार तैयार किया है, वे तो अज्ञानी हैं, अनाथ हैं तथा पाप-क्षेत्र हैं। मुझ जैसे जितेन्द्रिय, अहिंसक को यदि नहीं दिया गया क्योंकि मुनि ही पुण्य-स्थल होते हैं तो लाभ ही क्या है इस यज्ञ का ?

अपने अध्यापकों तथा याज्ञिकों का अपमान मानकर वे बालक मुनि को मुष्टि, दण्डों आदि से मारने लगे। महात्मा तो शान्त भाव से खड़े रहे किन्तु चरण-सेवी यक्ष ने उन बालकों को मूर्च्छित कर दिया। उनके नेत्र वाहर निकल आये, मुख से रूधिर बहने लगा।

मुनि के इस उपसर्ग को किसी समीप के प्रासाद से कोशल-पुत्री भद्रा देख रही थी, उसने आकर ब्राह्मणों को समझाया, मुनि के महान गुणों की प्रशंसा की और उनसे क्षमा-याचना करने के लिए कहा। भद्रा ने बताया कि एक बार हम कुछ सखियां उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए गई। वहां खेल खेलते हुए अनायास ही मेरा स्पर्श इस मुनि से हो गया और इनके विरूप रूप को देखकर मैं भयभीत हो गई तथा मैं घृणा से हंसी करने

सर्वदा के लिए त्यागी होते हैं यह तो उस देव की माया है। मुनि द्वारा परित्यक्ता मुझे ब्राह्मणदेव ने स्वीकार किया और उसके उपलक्ष्य में ही । है। ऐसे ब्रह्मचारी, त्यागी महातपस्वी जिन्होंने मेरी मन सेभी चाह नहीं की उनकी तुम इस प्रकार अवहेलना करते थे।

भद्रा के ज्ञान कराने पर सपरिवार ब्राह्मणों ने मुनि से क्षमायाचना की। मुनि ने कहा मेरा इन बालकों के प्रति ही नहीं किसी से भी द्वेष नहीं है। यह इस यक्ष का कार्य है। याज्ञिक ब्राह्मण ने भोजन लेने का नमन्त्रण दिया मुनि ने ग्रहण किया। आकाश में पांच दिव्य प्रकट हुए। अहो ! दान २ की ध्वनि हुई।

हरिकेशी मुनि ने भिक्षा ग्रहण के बाद उन याज्ञिक ब्राह्मणों को यज्ञ का वास्तविक अर्थ बताया, स्वरूप समझाया – कि केवल अग्नि प्रयोग तथा जल से शुद्धि नहीं होती, ये मार्ग बाह्य-शुद्धि के हो सकते हैं किन्तु अन्तरिक शुद्धि के लिए नहीं, इसे कुशल पुरुषों ने प्रशस्त नहीं कहा है।

कुश, धूप, तृण, काष्ठ, अग्नि हवन-सामग्री, शीतल जल आदि के प्रयोग से प्राणी तथा भूत की हिंसा ही होती है, मन्द बुद्धि धर्म मानकर इनसे पुनः २ कर्म का बन्ध करते है।

हे विप्र ! प्राणातिपातादि पांच पापों से निवृत्त, क्रोध, मान, माया, लोभ के परिहारक, इन्द्रियदमी, सुसंवृत्त, जीवन-मरण के अनवकांक्षी, देह-ममता त्यागी पुरुष यज्ञों में श्रेष्ठ महायज्ञ का अनुष्ठान करते हैं—

"तप-ज्योति, जीव ज्योति-स्थान, मनादियोग सुवा (कड़छी) शरीर कारिषग तथा कर्म रूप ईन्धन और संयम-योग के शान्तिमंत्र पाठ से ऋषि प्रशस्त हवन कर यज्ञ करते हैं।"

आत्मा शुद्धि के लिए धर्म रूप हृद, ब्रह्मचर्य रूप शान्ति तीर्थ हैं जहां स्नान करने तथा रहने से आत्मा शुद्ध तथा निर्मल एवं प्रसन्न होती है तथा समस्त दोष दूर हो जाते हैं। कुशल पुरुषों ने यही उत्तम स्नान देखा है, जहां स्नान करके वे विमल विशुद्ध होकर उत्तम स्थान-मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार के उपदेश को सुनकर ब्राह्मण प्रसन्न हुए और मुनि-मार्ग को स्वीकार किया।

(१२) श्रमण केशीकुमार-राजा परदेशी :—

भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के आचार्य, चतुर्दश पूर्वधर, चार ज्ञान के धर्त्ता श्रमण केशीकुमार थे। एक बार वे पांच सौ शिष्य परिवार के साथ कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती के कोष्ठक नामक उद्यान में पधारे। वहां का राजा जीतशत्रु था। इन्हीं दिनों केकयार्द्ध देश के स्वामी राजा प्रदेशी का राजधानी श्वेताम्बिका नगरी से राज्य कार्य के लिए भेजा गया "चित" नामक सारथी किन्तु बड़े भाई के सदृश, मंत्री के तुल्य, यहां पहुंचा। श्रमण केशीकुमार के धर्म प्रवचन से प्रभावित होकर वह श्रमणोपासक बना। पुनः श्वेताम्बिका लौटते हुए चित ने श्रमणकेशी को अपने यहां आने का निमन्त्रण दिया।

कालान्तर में केशीकुमार श्रमण ग्रामानुग्राम विहार करते श्वेताम्बिका नगरी के मृगवन उद्यान में पधारे। चित दर्शनार्थ गया। राजा परदेशी को भी धर्मोपदेश देने के लिए प्रार्थना की। आचार्य ने कहा-चित ! मनुष्य को चार कारण से सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति नहीं होती + १ उद्यानादि में जहां श्रमण रहें वहां जाकर वंदनादि न करने से, २ उपाश्रय पौषध-शालादि में न जाने से ३. आहारार्थ गए श्रमण की पर्युपासना न करने से ४ श्रमण श्रावक का संयोग मिलने पर अपने को छुपाने से धर्म श्रवण प्राप्ति नहीं होती। तो भला परदेशी के यहां बिना आये कैसे उपदेश दिया जाय ?

चित्त सारथी ने अवसर पाकर एक दिन कम्बोज देशीय अश्वों की परीक्षा निमित्त राजा को मृगवन में ले आया। वहां विश्राम करते हुए उपदिष्ट शब्द राजा के कान में आये। ज्ञात होने पर चित से कहा-चित्त ! ये जड़ लोग जड़ की उपासना कर रहे हैं, जड़ का उपदेश कर रहे हैं। इन्होंने श्वेताम्बिका नगरी के स्थान को घेर रखा है जिससे मैं ठीक ढंग से

सैर भी नहीं कर सकता। चित्त ने निवेदन किया महाराजा ! ये भगवान केशीश्रमण हैं अवधिज्ञानी हैं। स्व-पर के कल्याणक हैं।

ये अवधिज्ञानी हैं ! जीव-शरीर [देह-देही] को भिन्न मानने वाले हैं ! क्या मैं वहां उनके पास चलूं ! राजा परदेशी बोला। अवश्य ही चलो राजन ! तत्पश्चात राजा चित्त सारथी के साथ श्रमण केशीकुमार के पास गया। जीव-शरीर भिन्न हैं, आप अवधिज्ञानी हैं आदि प्रश्न किए। आचार्य ने राजा के प्रश्नों का समाधान करने पूर्व उसके मनः परिणामों का कथन किया– राजन् ! तुमने ऐसा विचार किया—अरे ! जड़ की पर्युपासना करते हैं। ये मूढ़ मुण्ड पुरुष मुण्ड एवं मूढ़ की उपासना करते हैं। ये अपण्डित, अज्ञानी इनकी पूजा करते हैं। ये लोग कोन हैं जो श्री ही रहित हैं किन्तु देदीप्यमान शरीर वाले हैं, ये पुरुष क्या आहार करते हैं, इन्हें कोई क्या देता हैं ? जिससे यह पुरुष महति परिषद् में उच्च शब्द से बोल रहा है, क्या ये बात ठीक है ! राजा आश्चर्य चकित हो कर पूछने लगा–आपको यह किस ज्ञान से मालूम हुआ ? श्रमणपति ने पांच ज्ञान की प्ररूपणा की, जीव और शरीर का पार्थक्य दर्शाया।

केशीकुमार श्रमण से समाधान पाकर राजा प्रदेशी श्रमणोपासक बन गया। उसने अपने राज्य आय को चार भागों में विभाजित कर दिया— १ सेना २ अन्तःपुर ३ कोषटागार ४ दानशाला के लिए। राज्यादि में अनासक्त रह धर्म में प्रवृत्त हो गया।

इससे पूर्व राजा परदेशी नास्तिक मति, अधर्मी, अन्यायी, प्रजासंतापी तथा अधर्मजीवी था। उसके सूर्यकन्ता नाम की रानी थी। सूर्यकान्त नाम का कुमार था जो बड़ा बुद्धिमान तथा राज्य कार्य को संभालने वाला था। रानी सूर्यकान्ता ने राजा को विरक्त देख उसे मरवा कर अपने कुमार को राज्य दिलाना चाहती थी। परन्तु कुमार ने यह स्वीकार नहीं किया। रानी ने रहस्य को प्रगट न होने देने के कारण एक दिन अवसर पा कर

विषयुक्त अनशन-पान आदि तथा वस्त्रों को देकर उसे मार दिया। विष का ज्ञान होने पर राजा शान्त भाव से पौषधशाला में आया और अन्तःमरण समाधि में लीन हो गया। वहां से प्राण त्याग कर प्रथम सौधर्म कल्प में सूर्याभ नामक देव रूप में उत्पन्न हुआ।

(१३) शुकदेव परिव्राजकः—

उस समय सौगन्धिका नगरी थी। वहां एक बार शुकदेव नामक परिव्राजक एक हजार शिष्यों सहित आये। वे ऋगादि चार वेद तथा षष्ठि तन्त्र में कुशल थे। सांख्य मत तथा पांच यम- नियम से युक्त शुचि मूल धर्म, दस परिव्राजक धर्म, दान, शौच तथा तीर्थाभिषेक की प्ररूपणा, उपदेश करते थे। नगरी की परिषद् आई। वहां रहा सुदर्शन नाम का नगर सेठ भी आया। उसने भी शुचि मूल धर्म—द्रव्य शुचि और भाव शुचि रूप मिट्टी, जल, द्रव्य, (द्रव्य शुचि मंत्र, यज्ञ तीर्थाभिषेक आदि भाव शुचि) धर्म को स्वीकार कर लिया।

एक बार इसी नगरी में थावच्चा पुत्र मुनि आये। परिषद् के साथ सुदर्शन भी गया। वंदनादि के बाद उसने प्रश्न किए—भगवन्! आपके धर्म का मूल क्या है? हमारे धर्म का मूल विनय है। सुदर्शन! दुर्गति में जाते हुए प्राणियों को जो बचाये और शुभ स्थान में पहुँचाए उसका नाम धर्म-आचार है। तथा सकल क्लेशों के जन्म दाता अष्टविध कर्म का जो संहारक है वह विनय है। चारित्र रूप अनुष्ठान है। यह दो प्रकार है– अगार तथा अणगार। (पांच महाव्रत रूप, तथा बारह व्रत रूप) इससे जीव सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होता है।

हे सुदर्शन! तुम्हारे धर्म का मूल क्या है! मेरे धर्म का मूल शौच है सुदर्शन ने उत्तर दिया। इस पर थावच्चापुत्र मुनि सुदर्शन सेठ को कहने लगे– सुदर्शन! कोइ एक पुरुष रुधिर भरे वस्त्र को रुधिर से धोता है तो वह शुद्ध होता है? नहीं, सुदर्शन ने कहा। इसी प्रकार तुम्हारी भी हिंसा यावत् मिथ्यादर्शन पाप के सेवन से शुद्धि नहीं होती। हे सुदर्शन!

जैसे कोई एक पुरुष उस रुधिर से लिप्त वस्त्र को सज्जीक्षार तथा जल से धोता है तो वह वस्त्र शुद्ध हो जाता है कि नहीं ! भंते ! होता है । इसी प्रकार आत्म रूपी वस्त्र अठारह पाप रूप रुधिर से लिप्त है इसे सम्यग् ज्ञान, दर्शन रूप क्षार तथा चरित्र रूप जल से धोया जाय तो शुद्ध हो जाता है ।

सुदर्शन ने स्वीकार कर लिया। अब वह श्रमणोपासक बन गया । जीव, अजीव का ज्ञाता होगया । कालान्तर में शुकदेव परिव्राजक लौट कर आये । परिषद् गई । पर सुदर्शन न पहुँचा । शुकदेव उसके घर गये इस विचार से कि वह उसे पुनः शुचि मूल धर्म में दीक्षित करूंगा । किन्तु सुदर्शन ने आदर सत्कार तथा नमस्कार नहीं किया । शुक ने कहा मैं तुम्हारे धर्मा-चार्य स्थापत्य के पास जाता हूं और उनसे अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण आदि पूछता हूं यदि उन्होंने उत्तर समीचीन दे दिया तो वंदन नमस्कार करूंगा अन्यथा उन्हें मैं निरुत्तर करूंगा । वे सुदर्शन के साथ नीलाशोक उद्यान में गये । थावच्चापुत्र मुनि से यात्रा, यापनीय, अव्याबाध, विहार सम्बन्धी प्रश्न किए । फिर भक्ष-अभक्ष, कुलत्थ, मास आदि प्रश्नों का समीचीन समाधान पाकर बोध को प्राप्त हुए तथा एक सहस्र परिव्राजकों सहित दीक्षा ग्रहण करली । चौदह पूर्व का अध्ययन किया । यथा समय सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए।